अध्याय - 1

श्री मैथिलीशरण गुप्त के जीवन तथा काव्य कृतियों का परिचय

- जन्म ।
- वंश – परिचय ।
- गुप्तजी का बचपन और प्रारंभिक शिक्षा ।
- विवाह – संस्कार ।
- दिनचर्या और खान – पान ।
- जीवन और व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन ।
- मृत्यु ।
- काव्य–कृतियों का परिचय ।

अनूभूति, कल्पना, धारणा, विचारणा आदि काव्य में व्यक्त होने से जीवनी और जीवन-दर्शन का कवि के काव्याध्ययन में विशेष महत्व रहता है । समीक्षा शास्त्र श्री कोच का मत है कि – "The work of so and so is good because it is the perfect expression of his personality."(1)

अर्थात काव्य में कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है । कवि का जीवनवृत्त उसके व्यक्तित्व -निर्माण का बाह्य उपादान है और जीवन दर्शन आभ्यंतर उपादान । जीवनी, व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन इन तीनों का काव्य-साधना में महत्वपूर्ण योग होता है । स्वयं गुप्तजी ने अपने विषय में लिखा है –

'' नवीन भाषा के साथ ही पद्य-रचना के लिए भारतवर्ष जैसा विषय मुझे आरंभ में ही प्राप्त हो गया, वह भी एक संयोग से । व्यापार में लम्बा घाटा होने से घर की बहुत-सी चल और अचल संपत्ति भी चल दी थी । मेरे बाल हृदयने जो घर में देखा, वह बाहर भी देखा । मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब-कुछ विदेशी व्यापारी लिए बैठे थे । मैं अपना ही रोना रोकर देश के लिए रोने वाला बन बैठा । पिंड में ब्रह्मांड नहीं रक्खा जा सकता तो पिंड तो ब्रह्मांड में ही धरा हुआ है ।'' (2)

तात्पर्य यह है कि जीवनी कवि का बहिरंग है और जीवन-दर्शन अन्तरंग । जो काव्य के अध्ययन के लिए महत्व रखता है । व्यक्तित्व निर्माण में बाह्य और आंतरिक दोनों पक्ष एकदूसरे के पूरक होते है । उनको पृथक नहीं किया जा सकता । मनुष्य के जीवन के लिए जितना आंतरिक पक्ष महत्वनीय है उतना ही बाह्य पक्ष भी । व्यक्ति के स्वभाव , प्रकृति और व्यवहार के साथ-साथ उनकी आकृति, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन से परिचित होना भी आवश्यक है । प्रस्तुत अध्याय में उनके जीवन और व्यक्तित्वका परिचय देते हुए उनकी काव्यकृतिओ का सार प्रस्तुत किया गया है ।

जन्म :–

नारी-जीवन को प्रधानता देने वाले सुप्रसिद्ध किव श्री मैथिलीशरण गुप्तजी हिन्दी खड़ीबोली काव्य के कीर्तिस्तंभ है । गुप्तजी का जन्म विक्रम सम्वत् 1943 के श्रावण मास, शुक्ल पक्ष की हरियाली तेज, सोमवार के दिन हुआ था अर्थात् 3 अगस्त सन् 1886 को मघा नक्षत्र में रात्रि के तीसरे पहर हुआ था । जन्म-पत्री-गत नाम कनकने मिथिलाधिपनंदिनी शरण दिया था । बाद में इस शब्द-समुच्चय का घरेलू संक्षिप्त रुप मिथिलाशरण हुआ । और मुख-सुख के लिए मैथिलीशरण बन गया । स्कूल के रजिस्टर में निर्दिष्ट स्थान पर एक ही पंक्ति में लिखा नहीं जा सकता था । इसलिए अध्यापक ने नाम का संक्षेप्त किया जो विद्यालय में भी मैथिलीशरण नाम ही रहा और वही ''मैथिलीशरण'' हिन्दी साहित्य के इतिहास में कवि का नाम अमर बन गया ।

वंश–परिचय :–

श्री मैथिलीशरणजी का परिवार गहोई वैश्यों का है । और पूर्वजों के नाम का द्योतक जो उपनाम है वह 'कनकने' है । परिवार के सभी सदस्यों के नाम के आगे 'कनकने' जुड़ा हुआ है । आगे चलकर मैथिलीशरणजी नें अपने नाम के आगे 'गुप्त' लिखना शुरु किया । अब यह गुप्त परिवार ही कहलाता है । 'कनकने' वंश की आदिभूमि बुन्देलखंड की प्राचीन पुरी पझावती थी, जो पचार्य कहलाती है । यहीं से वे भाण्डेर गये । भाण्डेर चिरगाँव से कुल सात कोस दूर है । चिरगाँव में कवि की पाँच पीढ़ियाँ हो गयी । श्री मैथिलीशरणजी के पूर्वज राघव कनकने को यहाँ राजवंशी चिरगाँव ले आये । श्री राघव कनकने ने ही चिरगाँव में 'कनकने' वंश की स्थापना की थी । डो. कमलाकान्त पाठक ने लिखा है कि श्री राघव कनकने के पुत्र लल्लाजु हुए । उनके पुत्र ललनजु हुए । ललनजु के तीन पुत्र हुए – श्री रामचरणजी, श्री घनश्यामदासजी और श्री भगवानदासजी । घनश्यामदासजी और भगवानदासजी के यहाँ कोई पुरुष संतान नहीं थी । श्री रामचरणजी के पाँच पुत्र हुए - श्री महारामदासजी, श्री रामकिशोरजी, श्री मैथिलीशरणजी, श्री सियारामदासजी, और श्री चारुशीलाशरणजी ।

श्री मैथिलीशरणजी श्री रामचरणजी की तीसरी संतान थी । मैथिलीशरणजी की एक संतान है उर्मिलाचरणजी, जिनका नामकरण श्री सुमित्रानंदन पंत ने किया था ।

यह परिवार प्रारंभ से ही समृद्ध परिवार रहा है । यह परिवार वंशवृद्धि का सुखोपभोग करते हुए संयूक्त था । श्री मैथिलीशरण गुप्तजी ने अपने विषय में लिखा है कि पिताजी मध्यवित्त गृहस्थ थे । किंतु उनकी प्रकृति अपेक्षाकृत उदार और राजस थी । उनका अधिकांश समय भजन-पूजन और पाठ में ही व्यतीत होता था । दस-बारह गाँवो की जमींदारी थी । घर में चाँदी-सोना भी यथेष्ट था ।(3)

श्री रामचरणजी के बारे में मुंशी अजमेरीजी ने लिपिबद्ध किया है – "सेठ रामचरण कनकने हमारे यहाँ के बहुत बड़े आदमी थे । जैसा बड़ा उनके मकान का फाटक था, वैसा ही बड़ा उनका मकान और घी का गोदाम था । उनके यहाँ रथ, सेज़गाड़ी (बड़ी मजोली) और कई प्रकार की बग्घियाँ थी ; बैल, घोड़े, ऊँट, हथियार और सिपाही थे और थे बहुत से नौकर चाकर । ..... सेठजी अपनी जाति में एक प्रसिद्ध और संपन्न सेठ थे । ..... कोई 13 गाँव में उनकी जमींदारी थी । वे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर थे ..... और थे लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के दरबारी । ओरछा और दतिया के महाराजाओं से उनका मेल था । वे बड़े उदार और रईसी मिजाज़ के आदमी थे ।" (4)

यह परिवार संमिलित कुटुम्ब के रुप में है और सभी व्यक्ति एक सूत्र में बँधकर परिवार की सुख-समृद्धि में योग देते है । परिवार के प्रत्येक सदस्यों को अपने कर्तव्य और सीमा का व्यवस्थित ज्ञान

है , कुटुम्ब के स्नेह-संबंध में कहीं कोई अंतर नहीं है । इस संमिलित कुटुम्ब व्यवस्था में मध्ययुग के प्रभाव के साथ-साथ नये युग का आलोक भी प्रतिभासित मिलता है । सभी व्यक्ति आर्थिक द्रष्टि से अलग है, एवं स्वावलंबी है ।

गुप्तजी ने स्वयं अपने पिताजी श्री रामचरणजी के संबंध में लिखा है – ''जब तक मेरे काकाजी छोटे थे, तब पिताजी घर का कुछ काम करते भी थे । छोटे काकाजी जब काम करने योग्य हुए, तब पिताजी ने सब काम छोड़ दिया । वे उन्हें सम्मति दे दिया करते थे । वह संमति अनुमोदन के रुप में ही हुआ करती थी । मंझले काकाजी जमींदारी का काम करते थे और छोटे काकाजी व्यापार का । काकाजी के उद्योग से ही चिरगाँव जैसे छोटे गाँव में व्यापार की मंडी बनी । घी का काम पैतृक था ।''(5)

कवि के पिता मध्यवित्त गृहस्थ होते हुए भी प्रकृति से उदार और राजस थे । वे अपना अधिकांश समय ईश्वर, भजन और पूजा पाठ में व्यतित करते थे । कमलाकान्त पाठकजी लिखते है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् अठारह वर्षो तक भगवानदासजी ने गृहस्थी और व्यवसाय को सम्हाला तथा कवि उन्हीं के संरक्षण में रहा । मंझले काका तो पिता के जीवन काल में ही दिवगंत हो गये थे, अतः कवि पर उनका कोइ प्रभाव नहीं पडा। छोटे काकाने गुप्तजी के कवि के निर्माण मे कुछ भी उठा न रखा। भगवानदासजी वैद्यक जानते थे । कवि ने यह लोक्रोपकारी व्यसन उनसे थोडा-बहुत सीखा-समझा, पर इसका निर्वाह न कर सका । (6) भगवानदासजी कथा-साहित्य के प्रेमी थे और उन्होंने इसका अच्छा संग्रह किया था। कवि की बालरुची कथा-वार्ता में विशेष रमी। (7)

समयोपरांत भगवानदासजी के व्यवसाय में घाटा आ जाने से कवि के कुटुम्ब को लगभग तीस-चालीस वर्षो तक विविघ संकटो से जूझना पडा ।(8) फिर भी जैसे-तैसे परिवार की मान-मर्यादा बनी रही। कवि के जीवन पर पिता और चाचा के इस विपन्न जीवन का प्रभाव सादगी, सरलता, सात्विकता और मितव्ययिता के रुप में पड़ा। इस परिवार के सभी सदस्यों के बीच इतना प्रगाढ़ प्रेम, स्नेह और ममता थी कि जिसे देखकर हिन्दी साहित्य जगत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री प्रेमचन्दजी आश्चर्यचक्ति हो गए और उन्होंने जैनेन्द्रकुमारजी से कहा- ''जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियाराम शरण दोनो भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हु। लक्ष्मण भी कया रामचन्द के प्रति ऐसे होंगे ? जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे विभिन्न कैसे हो सकते है ? मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैने उसमे भेद नहीं देखा। जैनेन्द्रजी ने कहा कि - दो सगे भाई झगड़े, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे। प्रेमचन्दजीने कहा - और नहीं तो कया। दस्तुर तो यही है।(9) प्रेमचन्दजी इस

अपने विस्मय को कभी नहीं जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नही होता था। जब ये बात जैनेन्द्रजीने गुप्त भाईयों को सुनाई तो उन्हे प्रेमचन्दजी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ। दो भाईयों के बीच कुछ अन्यथा संबंध संभव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

उन्नींस वर्षो की अवस्था तक कवि ने अपनी माता के वात्सल्य का उपभोग किया। उनके सम्बन्ध में कवि ने कहा है **'भूले तेरे व्रत विविध, अब भी याद प्रसाद, होकर तू गृहस्वामिनी रही सेविका तुल्य, तथा 'रामचरित को छोड़ कुछ पढ़ा न तुने और'**। (10) कवि की माता का स्वभाव सरल एवम् विनम्र था। वे घर में बड़ी थी फिर भी बहुओं से दबी दबी रहती थी। वे सब को अच्छा खिलाती थी यही बात घर के सेवकों के विषय में भी थी। जब उनके छोटे काका रात को ग्यारह बजे दुकान से लौटते थे तब वे जाड़े की रातो में भी एक बरोसी लेकर बैढी रहती थी। उनके वात्सल्य में एक संकोच के दर्शन होते थे। प्रत्येक माँ को अपने पुत्र के प्रति अगाढ़ स्नेह होता है। कवि के लिए माँ **'मोहमयी ममता-माया'**, थी। कवि की माता काशीबाई की निधन-तिथि रामनवमी सम्वत 1962 है।

श्री मैथिलीशरण का बचपन और प्रारंभिक शिक्षा :-

श्री मैथिलीशरणजी का बचपन बहुत ही लाड-प्यार में व्यतीत हुआ। श्री मैथिलीशरणजी को गाँव की ही पाठ़शाला में बैठाया गया। उस समय प्रारंभिक पाठशालाओ में दो समय पढ़ाया जाता था और तीसरी बार वें पंडितजी से पढ़ते थे। मुंशी अजमेरीजी उस वक्त का ब्योरा देते है कि - जिन दिनो मैथिलीशरण मदरसे में पढ़ने आते तो उनका शरीर आभूषणो से युक्त होता। ढीली-ढीली घोती, कुरतों के ऊपर कलीदार देशी-कोट और लाल मखमल की ज़री के काम वाली टोपी यह उनकी पोशाक थी। मुंशीजी मैथिलीशरणजी से ऊँचे दरजे में पढते थे। मैथिलीशरणजी और उनके भाई रामकिशोरजी पाठ़शाला में अपने बख्शे खुले रखकर ही चल दिया करते थे। और दूसरे बच्चे उनके बख्शों में से चीज़े ले लिया करते फिर भी वे दोनों भाई कभी कुछ नहीं कहते। जब मुंशीजी ने सम्वत 1951-52 में मदरसा छोड़ा तब मैथिलीशरणजी छठ़े दरजे में थे। इसके अलावा घर पर पंडितजी भी पढ़ाने आने थे पर बालक मैथिलीशरण को यह विद्या अपने स्नेहपाश में ज्यादा न बाँध सकी। क्योंकि उन्हें पढ़ाई से ज्यादा खेलकूद में रुचि थी। चकरी फिराने, पतंग उडाने, पेडों पर चढ कर इमली, अमरुद, लहसौंडे, बैर, केथ, महुए आदि बटोरना, एवम् गिल्ली दंडा, गेंद का खेल, लट्टु का खेल आदि खेलो का बहुत ही शौक था। इन खेलो में रसमग्न एवम् रचपच जाते कि घंटो गुज़र जाते; सुबह-शाम की खबर ही नहीं रहती। साथियों की टोलियों में यह सब प्रवृत्तियाँ स्पर्घा से बदलती। यहाँ तक की मैथिलीशरणजी जो

भी उमदा नस्ल के कबूतरों के नाम बताते वही मंगवाए जाते और खुद बिल्लीयों से उनकी चौकसी भी रात-बिरात करते। इन सब प्रयोगो में मैथिलीशरणजी को पिताजी से पिटने का कभी भय नहीं होता। बल्कि हर नए प्रयोंगो में वे उनकी सहायता ही करते। गुप्तजी ने स्वयं लिखा है - ''हम लोगों को कभी उनसे (पिताजी) पिटने का भय न था, परन्तु हमने उनके अथाह वात्सल्य का ही उपभोग किया। हम लोगो की इच्छाएँ पूरी करके वे हमसे भी अधिक आनंद प्राप्त करते थे।''(11)

बचपन एक तरल अवस्था है; बचपन में सिखा हुआ या कंठस्थ किया हुआ कभी नहीं भूल सकते। यह बात श्री रामचरणजी अच्छी तरह जानते थे। इसलिए भले ही प्राइमरी पाठ़शाला से मैथिलीशरण भाग जाते पर कुटुम्ब के वैष्णवी संस्कार इस बालक पर अवश्य पडे थे। श्री मैथिलीशरण के शब्दों में ''मैं और मेरे भाई उन्हीं पिताजी के निकट अलग-अलग चारपाईयों पर सोते थे। मैं उस समय पाँच-सात वर्ष का रहा हुँगा। पिताजी रात रहते ही उठकर प्रातः स्मरण करते थे, फिर हम लोगों को जगाकर नाम-महिमा याद कराते थे। ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ, पावा अचल अनुपम ठाऊँ।.... कितने ही श्लोक भी पिताजी ने मुझे याद कराए थे।..... आगे चलकर तुलसीदासजी का ही निम्नलिखित श्लोक मुझे और भी रुचा :-

''प्रसन्नतां या न गताभिषेकत, स्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनंदनस्य में, सदास्तु सा मंजुल मंगल प्रदा ।।''(12)

रामलीला के आयोजन हेतु रामचरणजी के आँगन में अनेकबार ब्रज की मंडलियाँ रास-खेलने आया करती थीं। इसे देख मैथिलीशरणजी को कुतूहल होता था। इस किशोर की रूचि भी रामलीला के प्रति आकृष्ट हुई। एक बार इस किशोर को माली का अभिनय अदा करने दिया गया। माली के अभिनय में रामजी को फूल अर्पण कर एक दो छंद भी बोलने थे। पर इन्होंने ठीक मौके पर माला तो रामजी को अर्पण की पर कंठ से छंद न बोल पाए।

मेरे कवि का आरंभ में मैथिलीशरण गुप्त जी कहते है कि-''मैने माली की भूमिका में रामजी को फूल अर्पण करते हुए दो-एक छंद पढ़ने की चेष्टा की थी, परंतु मैं सफल न हो सका, कंठस्थ पाठ भी ठीक न पढ़ पाया। एक साथी ने रामजी से निवेदन किया कि महाराज, मेरा यह अनुज अभी बच्चा है, इस कारण भी तुतलाता है। यह सुनकर दर्शक लोग हँसने लगे। मुझे रुलाई सी आ गई और मैं चुपचाप खिसक आया।'' (13)

इसके अलावा कवि को आल्हा पढ़ने में रूचि थी । जहाँ कहीं आल्हा की किताबें देखी उसे वहीं पर पढ़ने बैठ गए । पिता के सभी स्वाभाविक गुण कवि के व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बत हुए थे । आल्हा पढ़ते समय और कुश्ती लड़ते समय वे ढीला कुरता और खाकी रंग का साफा पहनते थे ।

चिरगाँव में गुप्तजी पुराने पाँचवे अर्थात् आजकल के तीसरे दर्जे तक ही पढ़े । कवि के पिता चाहते थे कि मैथिलीशरणजी अंग्रजी पढ़-लिखकर डिप्टी कलक्टर हो जाएँ । कुल-सम्मान और उच्चाधिकारियों का अनुग्रह दोनों प्राप्त थे ही । उनसे अधिकारियों ने कहा था कि वे एक पुत्र को अंग्रेजी पढ़ाएँ । अतः गुप्तजी मेक्डानल हाई स्कुल, झाँसी में पढ़ने के लिए भेजे गए ।[14] झाँसी में मैंने पहले वर्ष डबल इम्तहान पास किया । आगे चलकर द्विवेदीजी ने 'बाबू' बना दिया ।[15] झाँसी विद्याभ्यास करते समय उन्होंने साहबी पोशाक अपनाया था । विद्यालयीन शिक्षा में कवि का ध्यान नहीं लगा और अधिकांश समय वे खेल-कुद में व्यस्त रहा करते थे । झाँसी में कवि ने अंग्रेजी के साथ उर्दू का भी अध्ययन किया । कवि का कहना है कि उर्दू की लिखावट उसके अग्रज कुछ पढ़ लेते है, पर वह उसका लिपि सौन्दर्य ही देखता रह जाता है । कुछ दिन बाद झाँसी से घर बुला लिया गया । कवि ने इस कथन को ही चरितार्थ किया : ''मैं पढ़ने के लिए नहीं जन्मा हूँ । मैंने इसलिए जन्म लिया है कि लोग ही मुझे पढ़े ।''[16]

इस समय मुंशी अजमेरीजी और गुप्तजी के पिता मिले, मुंशीजी के पिता भीकाजी संगीत और काव्य दोनों में कुशल थे । वे राय बहादुर साहब के आश्रित थे । लेकिन सन् 1892 में राय बहादुर साहब की मृत्यु हो गई । तब से भीकाजी गुप्तजी के पिताजी की ओर अत्याधिक आकर्षित हुए ।

झाँसी से लौट आने पर कवि ने 'रामयश-दर्पण' ग्रंथ पढ़ना आरंभ किया । उन्हें कथा-साहित्य प्रिय था, अतएव उन्होंने चन्द्रकान्ता और चन्द्रकांता-सन्तति, सहस्त्र रजनीचरित तथा बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के हीन्दी में अनूदित उपन्यास पढ़े । बंगवासी, वैंकटेश्वर समाचार तथा भारत-मित्र पत्रों को वे पढ़ने लगे । थोड़े समय पश्चात हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ तथा सामायिक साहित्य उनके प्रिय विषय हो गए । आल्हा खंड के आलाप में आनन्द-मग्न होते थे । अजमेरीजी कहानियाँ एवं सवैये भी सुनाने लगे । संस्कृत के श्लोक भी कंठस्थ कराने लगे और पृथ्वीराज रासो के अनेक पद्य भी सुनाए ।[17] गुप्तजी को संस्कृत के वृत और उनकी लय रुच गई । उन्होंने रसराज, विद्यासुन्दर तथा पंचाशिका पुस्तकों को स्वयं पढ़कर अनेक श्लोक कंठस्थ किए । बंगला से अनूदित जासूसी उपन्यास भी इसी समय पढ़े । भर्तृहरिशतक, हितोपदेश, चाणक्य-नीति आदि ग्रंथ कवि ने स्वयं मंगवाए और अध्ययन किया । वैद्यक सीखने के उद्योग में कवि ने 'माघव-निदान' का अद्राँश कंठस्थ किया तथा शुश्रुत का पारायण भी किया ।

और 'मंत्रशास्त्र' का भी अध्ययन किया । उन्होंने 'वैद्य महिमा' नामक एक आख्यान की भी रचना की । पर आयुर्वेद से शीघ्र ही कवि को विरक्ति हो गई ।[18] यह संवत् 1958-1959 के लगभग कवि का स्वशिक्षा-क्रम था ।[19]

एक महाराष्ट्र विद्यार्थी ने कवि को अमरकोष के प्रथम दो कांड याद कराए । कुछ महिनो में वे चले गए और पंडित रामस्वरूप शास्त्री आए । वे कवि को 'लघु कौमुदी' पढ़ाने लगे । इसी समय उनके पिता दिवंगत हो गये और नियमित अध्ययन समाप्त हो गया ।[20] कवि ने दुर्गादत्त पंतजी से 'वृहत्त्रयी' और 'लघुत्रयी' के अनेक प्रसंग सुने और काशी प्रयास पं.अयोध्यानाथजी से उनके स्वरचित अनेक संस्कृत श्लोक । इसी समय प्रायः संवत् 1958 मे, (सन् 1901 में) कवि को प्रथम बार काव्य-स्फूरणा हुई ।[21]

गुप्तजी मुंशी अजमेरी के संसर्ग में संवत् 1954-1955 (सन् 1897-98)में सितार बजाना सीखने लगे और गाँव के बाहर गाने भी लगे । कवि का कथन है कि उन्होंने ''गाना सीखने का उद्योग किया, पर अपने गले के कारण वह भी छोड़ दिया । सितार भी कुछ दिन बाद छोड़ बैठे । वे अजमेरीजी को 'कोकिल कंठ' और अपने को 'काग-काकली' कहते ।[22] गुप्तजी का कहना है कि मैं आरंभ-शूर अवश्य था, पर महिने-दो महिने में ही मेरा उत्साह समाप्त हो जाता था और मैं एक काम छोड़कर दूसरा करने लगता था । केवल छन्द रचना ही ऐसी निकली जिसने मुझे बाँध लिया ।[23] विद्या कामधेनु होने पर भी व्याघ्रमुखी है ओर कला कँटीली होने पर भी कुसुमवदनी । विद्या का फल परिश्रम के पीछे मिलता है । कला रचना के रुप में कुछ न कुछ फल तत्काल देती जाती है, जिससे पुर्नवता मिलती जाती है । इस संबंध में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है ''ज्ञान अन्य मनुष्यों के समान कलाकार को भी प्राप्य है, पर उसकी प्राप्ति वैसी अनायास होनी चाहिए, जैसी फूल को आलोक की होती है ।'' किसी छोटी कक्षा में पढ़ते समय घटित एक साधारण घटना से गुप्तजी के स्वभाव की कुछ व्याख्या हो जाती है । इन्सपेक्टर महोदय संस्कृत के विषय में प्रश्न करेंगे, यह सोचकर, उनके कुछ पूछने के पहले ही वे शिव-तांडव स्तोत्र सुनाने लगे, जो न उनकी पाठ्य-पुस्तक में था और न पठित पाठों के समान सरल था ।[24]

कौतुक - प्रियता ही कवि के विनोद के मूल में है । उन्होंने अपने पात्रों को भी रूलाया और हँसाया है । काव्यारंभ के समय यह कौतुक इस प्रकार प्रकट हुआ : ''अजमेरीजी को गनपत कक्का की प्रशंसा से दोहे पर एक रुपया मिलने वाला था । वे कहने लगे : ग्राम सिया जाहिर जगत चिरग्राम के पास । गनपत काका जहाँ बसे ····· वे कुछ सोचने लगे तब मैथिलीशरणजी बोल उठे 'नित उठ खोदे घास' ।[25]

यह चपलता निश्चय ही कौतुक की प्रवृत्ति का सामाजिक रुप है, जिसे महादेवीजी इस प्रकार कहती है-''|वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी है, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थ विवेक का स्थायी संगम है · · · · गुप्तजी स्वभाव के लोक-संग्रही कवि है अतः उनके स्वभाव के तल में ऐसी गंभीर स्थिरता आवश्यक है, जिस पर हास और विनोद की सौ-सौ चंचल लहरें मिटने के लिए बन सकें और बनने के लिए मिट सकें ।[26]

पिताजी के मृत्यु के बाद कवि का अध्ययन कार्य समाप्त होकर स्वाध्याय का कार्य शुरु हुआ । उन्होंने इतिहास, पुराण, संस्कृति-विषयक ग्रंथ, संस्कृत के अनेक काव्यों और नाटकों को तथा भास और कालिदास जैसे संस्कृत के कवियों को, तथा तुलसी, सूर, नन्ददास, रहीम, बिहारी, घनानंद, सेनापति, मतिराम, देव, पद्माकर, ठाकुर आदि अनेक प्राचीन कवियों का अध्ययन किया । वे 'छत्रप्रकाश|' के रचयिता लाल कवि को भूषण की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानते थे । बंगला भाषा कवि ने प्रायः स्वयं ही सीखी । घर में उनके पिता की बंगला का अक्षरज्ञान करानेवाली पुस्तकों, बंगला का कोष तथा कतिपय अन्य पुस्तकें थीं , जिन्हें पढ़ते-पढ़ाते तथा किन्हीं बंगाली अधिकारी के संसर्ग-सहयोग से गुप्तजी ने यह भाषा सीखी । उन्होंने बंगाल के माइकेल मधुसुदन दत्त, द्विजेन्द्रलाल गय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नवीनचन्द सेन, बंकिमचन्द सेन तथा शरदचन्द आदि के ग्रंथो का पारायण किया । गुप्तजी उनसे प्रभावित भी हुए हैं । इसी संबंध में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है -''|शिक्षा संबंधी परीक्षाओं से शीघ्र ही मुक्ति पा जाने के कारण उनके व्यक्तित्व को अपने संस्कार और वातावरण के अनुसार विकास करने की सुविधा प्राप्त हो गई। जबकि आज भी हमारी शिक्षा-यंत्र विद्यार्थी के व्यक्तित्व को तोड़-मरोड़कर एकांगी बना देती है, तब छः दशक पहले की स्थिति की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है ।''[27]

विवाह – संस्कार :–

संवत् 1952 में गुप्तजी का प्रथम विवाह नौ वर्ष की अवस्था में हुआ था । बारात दतिया गई थी । अजमेरीजी पिताजी के साथ उनकी बारात में गए थे । अजमेरीजी ने उतनी बड़ी बारात कभी नहीं देखी । वे लिखते है - '' बारात दतिया गई थी और किले के पास ठहरी थी । पूरी बारात वहाँ नहीं समा सकीं थी इसलिए बहुत से बाराती इधर-उघर भी ठहर गए थे । मैथिलीशरण के ससुर स्वर्गीय रामनाथजी सोनी भी दतिया के बहुत बड़े सेठ थे । चार-चार हजार आदमियों की ज्योनार होती थी । कनकनेजी ने आतिशबाजी इतनी बनवाई थी कि वह टीके के समय खत्म हुई, इसलिए कई दिन चलती रही ।''''' ऐसी धूमधाम से मैथिलीशरण का विवाह हुआ था । सेठजी जो कार्य करते, बहुत ही आडंबरपूर्ण करते थे । उनका स्वभाव ही ऐसा था ।''[28] पाँच वर्ष पश्चात् संवत् 1957 में नववधू का द्विरागमन हुआ ।

भाद्रपद संवत् 1960 में कवि की प्रथम पत्नी का प्रसव पीड़ा में देहान्त हो गया । इस दुर्घटना के दो मास पश्चात् उनके पिता दिवगंत हुए । कवि के छोटे काका स्व. भगवानदासजीने संवत् 1961 में उनका दुसरा विवाह कर दिया । द्वितीय पत्नी सात-आठ वर्ष तक जीवित रही और उनसे कवि को एक पुत्र तथा एक कन्या प्राप्त हुई, पर दोनों संतानों की बाल-मृत्यु हुई । धर्म-पत्नी के न रहने पर कवि दो-तीन वर्ष तक तृतीय विवाह को अस्वीकार करते रहे । [29] छोटे काका का यह मर्म वचन कि ''अब मैथिलीशरण विवाह न करेंगे ? उनकी खुशी, पर हम सुखी न मर सकेंगे '', तथा मुंशी अजमेरीजी का अनुरोध, कवि टाल न सके और संवत् 1971 में कवि का तीसरा विवाह श्रीमती सरयूदेवी के साथ संपन्न हुआ । इस विवाह से कवि को नौ संताने हुई पर एक के अतिरिक्त सभी बाल्यावस्था में ही चल बसीं । ..... संवत् 1993 में कवि अंतिम संतति, चिरंजीव उर्मिलाचरण जी का जन्म हुआ । [30] सन् 1955 में गुप्तजी के घर पर पुत्रवधु का आगमन हुआ । इन नौ संतानो के दुःख को कवि ने भोगा है उसके बारे में महादेवीजी वर्मा का कथन है कि यदि अपनी नौ - नौ संतानों को अपने हाथ से मिट्टी को लौटा देना पिता का दुःख है तो गुप्तजी दुःख के इस समृद्र को तैर आए हैं । [31]

दिनचर्या एवं खान-पान :-

गुप्तजी प्रातःकाल घर के आँगन में टहलते थे । इसके बाद वे जलपान करते थे और अपने भाई भतीजों से बातचीत करते थे। तथा डाक की प्रतीक्षा करते थे । तत्पश्चात् वे काव्य रचना करते थे या चरखा लेकर आनेवालों से बातचीत करते थे । वे ठाकुरजी को भोग लग जाने के बाद ही स्नान करते थे । भोजन करते समय भी वे दूसरों की तृप्ति का ध्यान रखते थे । तदनंतर संध्या तक चौरस का खेल, पुस्तकावलोकन, वार्तालाप, घर-बाहर के संबंध में परामर्श, नई योजनाओं पर विचार आदि चलता रहता था । जहाँ उत्तर भेजना हो, वहाँ पत्र लिख दिए जाते थे । इसी बीच तीसरे पहर की चाय होती थी । घर का कोई न कोई व्यक्ति जाता-आता रहता था । उनसे परामर्श तथा वृत्तांत कथन हुआ करता था । इसी भाँति बाहर से भी कोई न कोई आता रहता और परामर्श, सहायता अथवा सहानुभूति प्राप्त करता था । रात के भोजन के बाद वे घर के पशुओं की देखभाल, ग्राम-वासियों से बातचीत तथा परिचको को कुछ आदेश भी देते थे। रात में उनको नींद भी प्रायः कम ही आती थी । वे घर की महिलाओं से अत्यल्प ही बोलते थे । इस दिनचर्या का परिणाम यह है कि गुप्तजी प्रायः प्रसन्न रहते थे ।

कवि सियारामशरणजी का वार्तालाप प्रायः साहित्य-विषयक होता था और दोनों अपनी-अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में एक दूसरे से परामर्श ही नहीं करते, विचार विनिमय भी कर लेते थे । इन सब कार्यो के लिए निर्दिष्ट समय नहीं था । गुप्तजी काव्य-रचना कब करते उसके विषय में मुंशी अजमेरीजी

का वक्तव्य है – ''भैयाजी के कविता करने का कोई खास समय नहीं है, नहीं लिखते तो महीनों नहीं लिखते, पर जब लिखने बैठते हैं, तब उन पर एक नशा-सा चढ़ जाता है, फिर उन्हें खाने-पीने की भी परवाह नहीं रहती ।''(32)

कोई प्रबल आघात होने पर वे दत्त चित्त होकर प्राचीन काव्य, पुराण अथवा इतिहास को पढ़ने लगते थे । पर एक दिन ऐसा नहीं जाता कि वे दस-पाँच पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें देखते पढ़ते नहीं। इसी भाँति डाक और समाचार-पत्र भी उनकी दैनिक चर्या के अंग थे । उनकी आस्था रामायण-महाभारत तथा गांधी-विनोबा पर थी, हर किसी कृति या व्यक्ति पर नहीं । (33)

आशय यह है कि गुप्तजी काव्य-रचना करते हुए तल्लीन हो जाते हैं और काव्य-पाठ करते हुए भी । तल्लीनता उनकी प्रकृति का गुण है । यही स्थिति उनकी चौरस खेलते हुए अथवा भाव-चिंतन करते हुए भी हो जाती है । जब वे इन कार्यो में लग जाते हैं तब बाहरी बातें उन्हें लक्षित नहीं होती। काव्य-कला गुप्तजी के लिए अमृत पिलानेवाली मोहिनी ही नहीं, नव-नव निर्देशमयी भी है -

''तू वह माया है, जो उल्टा हरि से हमें मिलाती हैं । (34)

भोजन भी उनको सादा ही अच्छा लगता था, वे जलपान के समय बासी पूड़ी खाते थे और पूड़ी, आचार का ब्यालू करते थे । दोपहर के समय वे दो-तीन रोटियाँ ही खाते थे । वे चाय पीते थे लेकिन कभी-कभी दूध या दहीं भी लेते थे । वे खान-पान सभी के साथ करते थे । और ब्यालू अकेले करते थे । उनको सादा-भोजन प्रिय था किंतु अतिथियों के साथ या पर्व त्यौहारों पर विशेष भोजन भी करते थे । बाहर से आई हुई मिठाईयाँ, फल मेवे घर के लोगों के साथ ही खाते थे । गंगा प्रसादजी पाण्डेय ने लिखा है कि ''खान-पान के समय गुप्तजी सबकी थाली-पत्तल झाँक लेते हैं । स्वयं खाने-पीने में व्यस्त होकर शायद वे ऐसा न कर पाते । सबके साथ आनन्द लेने की आकांक्षा का उनमें आधिक्य है ।'' (35) भोजन वे घर के भीतर पट्टे पर बैठकर करते थे और दिल्ली या झाँसी के अपने आवास में टेबल पर । जलपान और ब्यालु चौके में नहीं, बैठक में करते थे । पूड़ी की चलन इसलिए है कि चौके से बाहर गई हुई रोटी वैष्णव कैसे खा सकता है ? पर अब वह अभ्यास मात्र है, नियम की कड़ाई नहीं ।'' (36) गुप्तजी को तम्बाखू का व्यसन था, कभी-हुक्का, सिगारेट, कभी बीड़ी और चुरट भी लेते थे ।

गुप्तजी ने हार्दिकता और मानवीयता को महत्व दिया था । उनकी विनय, शालीनता अथवा शिष्टाचार की प्रवृत्तियाँ पद या धन के सम्मुख अतिरिक्त रुप से प्रदर्शित नहीं होती, पर जो उनके प्रेम, वात्सल्य अथवा करुणा के पात्र हैं, उनकी यथोचित सहायता किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । वे हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं मानते थे । उन्होंने छूत-छात को महत्व नहीं दिया था ।

गुप्तजी को अकेले रहना पसन्द नहीं था । यदि वे लिखते-पढ़ते न हों तो छोटे बच्चों से लेकर बूढ़ो तक, दो-चार व्यक्तियों से बराबर घिरे ही रहते थे । भाई-भतीजों से जिस आत्मीयता से बात करते उसी प्रकार वे अन्य लोगों से मिलते-जुलते थे । गुप्तजी सामाजिक प्राणी थे अतः समाज से अलग रहना पसन्द नहीं करते थे । सामाजिक होने के साथ वे प्रकृति प्रेमी भी थे । कालिदास और बंगला के कवियों के संसर्ग में आने से वे प्रकृति के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुए थे । उन्होंने प्रकृति के बाह्य रुप को ही देखा है । 'सिद्धराज' और 'साकेत', जिन में प्रकृति-चित्रण के कई स्थल आए हैं ।

वे अनुभूतिशील होते हुए भी स्वकेन्द्रित व्यक्ति नहीं थे । जैनेन्द्रकुमारजी का कथन है कि '' मैथिलीशरणजी कोमल हैं तो दुसरे को लेकर, भाव-प्रवण हैं तो दुसरे के निमित्त । मानों स्वयं उनके पास कुछ खर्च को नहीं है । पुण्य-श्लोक पुरुषों की गाथाएँ हैं और उनका गान उन्हें बस है । उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या ?''(37) भावनाशील व्यक्ति होने के कारण जीवन की अनेक कार्य-दिशाओं में उनकी सहसा प्रवृति भी हुई । क्योंकि वे प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने जुझते रहे । अनेक संतानो की मृत्यु के बाद भी वे हँसते ही रहे । उन्हों ने रोग का भी हंसकर सामना किया । और साहित्य-साधना भी अनवरत करते रहे । उन्होंने जीवन में उत्कर्ष और विकास को प्रधानता दी है । वे कभी निराश और अविनयी नहीं हुए । वे विरोघ करनेवालों से भी डरते नहीं थे । संक्षेप में तपस्त्याग और विनय, सात्विकता और आशावाद तथा युगचेतना और अन्याय का विरोध गुप्तजी के व्यक्तित्व के संघटनकारी अवयव है ।(38)

जीवन और व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन :-

गुप्त परिवार ने संयूक्त गृहस्थ जीवन को महत्व दिया है । पारिवारीक प्रतिष्ठा और गौरव के निर्वाह का कार्य उनके अग्रज करते थे । कवि गृहस्थी और व्यवसाय को नवीन उपकरणों से विकसित और सज्जित करते थे । अनुज सियाराम शरणजी तत्व-चिंतक और कवि थे । चारुशीलाशरणजी मास्टर थे और वे सियारामशरणजी की सेवा करते थे । बालकों का चरित्र-निर्माण और बहू-बेटियों के ज्ञान-वर्द्धन का निर्वाह भी वे ही करते थे । प्रकाशन के संचालक का कार्य निवासजी करते थे और प्रेस की व्यवस्था सुमित्रानंदन पंतजी करते थे । मुंशी अजमेरीजी, महादेवीजी, रायकृष्णदासजी, स्व.गणेशजी, जैनेन्द्रकुमार जी आदि से उनका स्वजनों सा ही संबंध था । गुप्तजी का परिवार अपने प्राचीन स्वरुप का सुदृढ़ आधार दिए हुए हैं । वहाँ नवीनता का प्रवेश हुआ है, पर उतना ही जितना उपयोगी है । नए मुद्रण-यहाँ वहाँ है, पर बैठक चौकी और जमीन पर ही है । घर में कार और क्लश टट्टियाँ है, पर मकान का स्वरुप ग्रामीण है । गुप्तजी और उनके स्वजन दिल्ली या झांसी के बंगले में जिस प्रकार रहते हैं, उसी प्रकार चिरगाँव में ।(39) कहा जा सकता हैं कि गुप्त परिवार नवीन और प्राचीन जीवन प्रणाली का संगम ही है ।

जैनेन्द्रकुमार जी ने गुप्तजी के व्यक्तित्व का उद्घाटन इस प्रकार व्यक्त किया है – ''नाम बड़े, दर्शन थोड़े, उनकी पहली छाप मुझ पर यह पड़ी - मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है । अपने चारों और दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी, रुप उन्होंने आकर्षक नहीं पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण संतुष्ट नहीं है । अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक बननें दे, मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है । लिबास मोटा, देहाती और कढुंगा ।····· मानो घोषित करना चाहते हो कि मैं सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हुँ । उत्सुंकता का, या शोभा का, या समादार का पात्र कोई और होगा । मैं साधारण में साधारण हूँ ।····· सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसंद नहीं है । इज्ज़त में व्यतिरेक नहीं आ सकता । कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है ।''(40)

महादेवी वर्मा ने गुप्तजी के व्यक्तित्व का बिम्ब विधान करते हुए लिखा है – ''गुप्तजी के बाह्य दर्शन में ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें असाधारण सिद्ध कर सके । साधारण मझोला कद, साधारण छरहरा गठन, साधारण गहरा गेहुँआ या हल्का साँवला रंग, साधारण पग़डी, अंगरखा, धोती या उसका आधुनिक संस्करण गांधी-टोपी, कुरता, धोती और इस व्यापक भारतीयता से सीमित सांप्रदायिकता का गठबन्धन सा करती हुई तुलसी कंठी । अपने रुप और वेश दोनों में इतने अधिक राष्ट्रीय है कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते । उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है । सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है । ऊँची नाक पर दंभ का उतार-चढ़ाव नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है । जो विशेषताएँ उन्हें सबसे भिन्न कर देती है, वे हे उनकी बँधी द्रष्टि और मुक्त हँसी ।''(41)

गुप्तजीने अपने संपूर्ण जीवन में सादगी को ही महत्व दिया था। किन्तु वे कंजूस नहीं थे । उनकी महानता उनके सहज आचरण, सरल व्यवहार और सारी वेशभूषा में ही सिमट नहीं पाती थी । उनका सारा कारोबार रईसी ढंग का था, पर वह सर्वत्र सात्विकता की आभा लिए हुए था । इस बृहत् परिवार का स्वरुप संक्षेप में सबकी रूचि और आवश्यकता तथा कवि के व्यक्तित्व का संमिलित परिणाम था । उन्होंने तो अपने जीवन में मानवता को ही प्रधानता दी थी । गुप्तजी ने सादगी, सरलता को ही अपने जीवन में महत्व दिया था । उनका व्यक्तित्व प्रतिभाशाली है । अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण वे किसी भी अजनबी से अपनापन स्थापित कर सकते है । उनकी शालीनता और आत्म-विश्वास इतना गहरा है कि किसी के भी आगे झुककर छोटा नहीं होता । किंतु मौलिक या सैद्धान्तिक प्रश्नों पर तनिक-सा भी नहीं काँपता, जो एक और परंपरावादी कवि प्रसिद्ध है । लेकिन दूसरी ओर चालीस वर्षो से निरंतर अपने उदार द्रष्टिकोण के कारण प्रगति-प्रेरक रहा है और विरोधियों को प्रभावित करता रहा है । (42)

वे अपने प्रतिभाशाली सामाजिक व्यक्तित्व के कारण सब तरह के सब श्रेणियों और सभी वर्णो के लोगों से अपनत्व स्थापित कर सकते थे । वे अनपढ़ ग्रामीणों के संपर्क में भी आते थे । वे धन या पद किसी के भी सामने झुकनेवाले नहीं थे । वे तो धनी या अमीर, प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित सभी को एक ही द्रष्टि से देखनेवाले व्यक्ति थे ।

मृत्यु :-

कवि को कोई तीस-चालीस वर्ष तक संकट से जूझना पड़ा । मतलब यह है कि कवि की युवावस्था आर्थिक कष्टों में बीती । उन्होंने प्रेस और पुस्तक-प्रकाशन को व्यवसाय बनाया तथा कृषि आदि से गृहस्थी चलाई । कवि सन् 1910-11 में शिरोरोग से पीड़ित थे और उसके पश्चात् अर्श से ग्रस्त हो गए । यह रोग उनका जीवन-संगी बन बैठा ।[43] सन् 1928-29 में वे अधिक समय तक बीमार रहे । कवि 17 अप्रेल 1941 को गिरफ्तार हुए और झांसी जेल में रक्खे गए । 10 जून को आगरा सेन्ट्रल जेल में भेज दिए गए और वहीं निष्कृत्ति 14 नवेम्बर 1941 को हुई । सन् 1964 में इस असार संसार को छोड़कर चले गए ।

मैथिलीशरण गुप्त के विश्लेषण के लिए वज्रादपि कठोरानि मृदुनि कुसुमादपि, लोकोत्तराणि विचेतांसि वाली पंक्ति संभवतः सर्वोत्कृष्ट कसौटी है, और उनके व्यक्तित्व की यही द्वैतता इतनी रमणीय है कि वह एक स्थायी स्नेहबंधन बनकर संपर्क में आनेवाले को हठात आबद्ध कर देती है ।[44] गुप्तजी को अपने शैक्षणिक जीवन काल से ही साहित्य सृजन के लिए प्रेरणा मिली । उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर उनके पिता का अधिक प्रभाव पड़ा । कवि बाल्यावस्था में अपने पिता के धार्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और उन्होंने काव्य रचना का आरंभ किया । आगे चलकर वे परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अनेक मित्रों के संपर्क में भी आए । स्व. मुंशी अजमेरीजी गुप्तजी के निकटतम् व्यक्ति थे । मुंशीजी गुप्तजी के परिवार का ही एक अंग थे । गुप्तजी के समस्त साहित्यिक कार्यक्लाप में उनका योगदान रहता था । अन्य साहित्यिक व्यक्तियों में कवि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी से अधिक प्रभावित हुए । गुप्तजी के लिए आचार्य द्विवेदीजी परम आराध्य थे । उन्हें वे अपना न्याय गुरु मानते थे । उन महानुभावों के अतिरिक्त कवि रायकृष्णदास, जय शंकर प्रसाद, बाल मुकुन्द गुप्त, राजा रामपाल सिंह, डा.वृन्दावनलाल वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, दुर्गादत्त पंत, डा. श्यामसुन्दर दास, श्री केशवप्रसाद मिश्र, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, कृष्णदेव प्रसाद, गौड़, बनारसीदास चतुर्वेदी, सच्चिदानंद हीराचन्द वात्स्यायन - 'अज्ञेय', जैनेन्द्रकुमार , डा. नगेन्द्र तथा सेठ गोविन्ददास आदि के सम्पर्क में आए । रायकृष्णदास उनके घनिष्ठ मित्र थे । प्रसादजी और गुप्तजी की मित्रता के केन्द्र बिन्दु भी रायकृष्णदासजी ही है । स्वर्गीय वाईस्वत्यजी ने कवि को 'साकेत' की रचना के

लिए प्रेरणा दी । राष्ट्रीय नेताओं में कवि का राष्ट्रपिता महात्मा गांधी से घनिष्ठ संबंध था । कवि महात्मा गांधी के जीवन दर्शन से भी प्रभावित हुए । महामना मालवीयजी और डा. राजेन्द्रप्रसादजी से भी उनका सम्बन्ध रहा है । गुप्तजी श्री जवाहरलालजी का आदर करते थे । विनोबाजी के प्रति भी कवि को बड़ी श्रद्धा थी । इस प्रकार गुप्तजी ने कई व्यक्तियों से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया ।

गुप्तजी को अपने जीवन में बहुत आदर सम्मान मिला। किन्तु वे प्रतिष्ठा मोही व्यक्तियों में नहीं थे । 'भारत-भारती' के प्रकाशित होते ही कवि ''राष्ट्रकवि'' बन गए । 'साकेत' के प्रकाशन ने उस बिरुद को सार्थक किया । सन् 1935 में हिन्दुस्तानी अकादमी ने उनको पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया । सन् 1937 में साहित्य संमेलन ने बारह सौ रुपये का 'मंगला प्रसाद' पुरस्कार दिया । सन् 1936 में गुप्तजी की जगह - जगह पर स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी । उस समय कवि की आयु पचास वर्ष की थी । काशी में 'तुलसी मीमांसा परिषद' की ओर से गांधीजी के कर कमलों द्वारा कवि को 'मैथिलीकाव्य-मान-ग्रंथ' भेंट किया गया । सन् 1942 में आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा फिरोजाबाद के भारतीय भवन पुस्तकालय तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के हीन्दी छात्रों ने कवि को सम्मानित किया । 27 जुलाई 1941 को आगरा सेन्ट्रल जेल के राजबंदियों ने कवि की छप्पनवीं वर्ष-गांठ के अवसर पर अभिनन्दन किया । 11 अगस्त 1945 को कलकत्ते में गुप्त हीरक जयन्ती महोत्सव समिति ने कवि को अभिनंदन किया ।

सन् 1946 में काशी की 'नागरी प्रचारिणी' सभा ने कवि की हीरक जयन्ती का आयोजन किया । और कवि को दस हज़ार रुपये भेंट में दिए गये । कवि की हीरक जयंती जगह-जगह मनायी गयी । सन् 1946 में साहित्य संमेलन के करांची अधिवेशन में गुप्तजी को ''साहित्य वाचस्पति'' की उपाधि से सम्मानित किया गया। सन् 1948 के नवम्बर में आगरा विश्वविद्यालय ने गुप्तजी को डी. लिट. की उपाधि प्रदान की । राष्ट्रभाषा परिषद, गायघाट, काशी ने गुप्तजी को 1951 में मानपत्र द्वारा सम्मानित किया । 6 सितम्बर 1952 को कवि ने इन्दौर में वीर वाचनालय का शिलान्यास किया । इसके आसपास संसदीय हिन्दी परिषद, नई दिल्ली का उद्घाटन किया । बम्बई प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के समावर्तनोत्सव की अध्यक्षता कवि ने सितम्बर 1952 में की । इसी समय देश में जगह-जगह उनकी जयंतियाँ मनाई गयी और सम्मान किया गया। नई दिल्ली के अनेक साहित्यिक उत्सवों और कवि संमेलनों के वे अध्यक्ष रहे ।

मार्च 1952 में उज्जर-प्रदेश शासन द्वारा 'अंजलि और अर्घ्य', 'हिडिम्बा' और 'पृथिवीपुत्र' पर आठ सौ रुपए का पुरस्कार दिया गया । लेकिन कवि ने इसको स्वीकार नहीं किया । सन् 1954 में भारत सरकारने गुप्तजी को 'पद्म भूषण' की सम्मानित उपाधि प्रदान की । जिनकी सनद

सन् 1955 के लोकतंत्र दिवस पर राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद द्वारा भेंट की गई । कवि को सन् 1954 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के सम्मानित प्रोफेसर नियुक्त किये गये । सन् 1952 में वे भारतीय राज्य सभा के राष्ट्रपति द्वारा छः वर्ष के लिए मनोनीत किये गये और अवधि की पूर्ति पर वे दुबारा भी मनोनीत किये गये । वे राज्य-सभा के सदस्य थे । तब सभा के अधिवेशन के दिनों में वे दिल्ली रहते थे बाकी उनका स्थिर वास चिरगाँव, झाँसी था।'' हिन्दी साहित्य में वे राष्ट्र कवि के पद पर, निर्विरोध के रुप में सुख्यात नहीं है, पर उनकी राष्ट्र-कवि की पद प्रतिष्ठा सर्वजन - संमत है ।'' (45) दीर्घकालीन की साधना के साधक इस महान् साहित्यकार को श्री राम ने अपार यश प्रदान किया है ।

सन् 1900-1920 का समय द्विवेदीयुग का समय रहा है । मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि है । 1910 से द्विवेदी युग का दुसरा चरण प्रांरभ होता है और द्विवेदीजी के 'चरणानुचर' बने शिष्य मैथिलीशरण गुप्त ने 'सरस्वती ' के सदस्य बने रहकर भी स्वतंत्र ग्रंथ रचना करने की क्षमता प्राप्त कर ली थी । सन् 1910 से 1925 तक का समय निर्माणावस्था का है । इस काल में वर्णनात्मक तथा अनेक रुपात्मक काव्य प्राप्त होते है । इसमें कवि व्यक्तित्व का निर्माण हुआ, उनका काव्य-पथ परिष्कृत हुआ और प्रवृत्तियाँ सुस्पष्ट हुई । (46) यहाँ उनकी मौलिक रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

गुप्तजी की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है ।

(1) रंग में भंग :-

गुप्तजी के निर्माण-काल का आरंभ 'रंग में भंग' ऐतिहासिक खण्डकाव्य के प्रकाशन से हुआ । उनकी सर्वप्रथम मौलिक रचना 'रंग में भंग' (सन् 1909) में प्रकाशित हुई । यह खण्डकाव्य जिसमें बूंदी एवं चितौड़ के नरेशों की एक महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण हुआ है । कवि ने टाड के राजस्थान का इतिहास [Annals & Antiquities of Rajasthan] से ऐतिहासिक सामग्री ग्रहण की । और स्व.लज्जाराम शर्मा से भी सहायता मिली । इसके प्रथम संस्करण की भूमिका में द्विवेदीजी ने लिखा था - ''जिस घटना आधार पर यह कविता लिखी गई है, वह एक ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि- कल्पना नहीं । यह जितनी कारुणिक है, उतनी ही उपदेश-पूर्ण भी । इसीसे उसके महत्व की महिमा बहुत अधिक ।''(47) इस रचना में दो घटना व्यापार वर्णित हैं - (1) चितौड़ के राणा का बूँदी में विवाह संस्कार, विग्रह और हाड़ा रानी का सती होना तथा (2) बूँदी का नकली किला चितौड़ में बनाया जाना और उसकी रक्षा करते हुए हाड़ा-वंशी कुंभ का वीर गति पाना ।

यह वीर भाव से परिपूर्ण आख्यान काव्य है । मातृभूमि के प्रेम के हेतु आत्म-बलिदान इसका प्रतिपाद्य है । मध्ययुगीन वीरत्व का आदर्श अर्थात आन की रक्षा के लिए मर मिटनेवाले वीरों का चित्रण इसमें अभिव्यक्त हुआ है । इसका केन्द्र भाव 'प्रतिशोध' शब्द है । कवि ने एक ऐतिहासिक घटना लेकर 'रंग में भंग' जैसे रोचक काव्य की रचना की है ।

(2) जयद्रथ-वध :-

जयद्रथ-वध गुप्तजी की द्वितीय रचना है । जयद्रथ-वध विषयक प्रथम सचित्र आख्यानक रचना 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' का वृतांत जनवरी, सन् 1908 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ और अन्य विषय सन् 1910 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए । सन् 1910 में ही जयद्रथ-वध काव्य का खण्ड-काव्यात्मक रुप निर्मित हुआ और उसके अगले वर्ष पुस्तकाकार रुप प्राप्त हुआ । कथा का आधार महाभारत है । प्राचीन कथा को लेकर भी कवि ने इसका प्रबंध शिल्प स्पष्ट, सरल और प्रवाहपूर्ण शैली द्वारा नवजीवन प्रदान किया है । इसके ऐतिहासिक महत्व का उल्लेख इस प्रकार किया गया है -'' 'जयद्रथ-वध' में मै.गुप्त ने परंपरागत प्रचलित काव्यरुप में अपनी मौलिक प्रतिभा का संमिश्रण कर एक अपूर्व काव्य की रचना की । उन्होंने 'रामचरित मानस' में प्रयुक्त 'हरिगीतिका छंद को सरल, साहित्यिक और ओजपूर्ण खड़ीबोली में ढाल दिया । कथानक के लिए उन्होंने महाभारत का एक बहुत ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रसंग लिया । फिर युद्ध-भूमि का चित्रमय चित्रण, करुण रस का अबाध प्रवाह और भक्ति भावना की सुंदर व्यंजना ने पाठकों का हृदय मोह लिया और इसका सबसे महत्वपूर्ण अंग इसकी भाषा थी, जो साहित्यिक होती हुई भी अद्‌भुत गीतिपूर्ण और लय संयुक्त थी ।''[48]

काव्य की कथावस्तु का नियोजन अर्जुन को प्रतिज्ञा पालन के महाभारतीय आख्यान को प्रस्तुत करने के लिए हुआ है । कथावस्तु सात सर्गो में विभाजित है । (1) महाभारत के युद्ध में द्रोणने दुर्भेद्य चक्रव्यूह की रचना की है उसका भेदन करने हेतु अभिमन्यु स्वयं दायित्व लेता है और वह अपनी नवोढ़ा पत्नी उत्तरा से विदा लेता है । और चक्रव्यूह का भेदन करता है । निःशस्त्र अभिमन्यु पर जयद्रथ क्रूरता पूर्वक वध करता है । (2) पांडव विषण्ण हो उठे और वे युद्ध के लिए तैय़ार हो गए । कृष्ण उन्हें प्रोत्साहित करते है। (3) अभिमन्यु का दाह-संस्कार होता है , पर उत्तरा गर्भिणी होने के कारण सती न हो सकी । (4) अर्जुन शंकर से पाशुपतास्त्र पाकर वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए आश्वस्त है । यह कृष्ण की योगमाया से प्राप्त होता है । (5) कौरवों-पाण्डवो में भीषण युद्ध होता है । जयद्रथ सूर्यास्त तक अपने को छिपाए रखने का प्रयास करता है । दुर्योधन को जयद्रथ की चिंता होती है । (6) सूर्यास्त होने पर अर्जुन कृष्ण को आत्मग्लानि तथा शोक-संताप भरे वचन कहते है । इतने में जयद्रथ प्रकट होता है

और सूर्य भी दिखाई पड़ता है । यह कार्य कृष्ण ने संपादित किया है । अंत में जयद्रथ का शिर कटकर उसके तपस्या-रत पिता वृद्ध क्षत्र की गोद में गिरता है । इस तरह जयद्रथ अर्जुन से युद्ध में वीरगति पाता है । (7) विजयी अर्जुन कृष्ण के साथ अपने शिबिर में लौटते है । यहाँ पर कृष्ण परब्रह्म के अवतार माने गए हैं ।

(3) पद्य – प्रबन्ध :-

गुप्तजी की समय-समय पर 'सरस्वती' तथा अन्यत्र प्रकाशित कविताओं का संग्रह पद्य-प्रबन्ध है । लघु आख्यानक काव्यों का संग्रह है । सन् 1912 के मार्च महिने में यह कृति प्रकाशित हुई । प्रतिपाद्य की द्रष्टि से इन कविताओं में कोई साम्य नहीं है । कुछ कविताएँ क्रोध, प्रेम, मृत्यु, संसार आदि विषयों पर लिखी गई हैं, कुछ में ऋतुवर्णन है, तो कुछ उपदेशात्मक आख्यान । भिन्न-विभिन्न कविताओं के संग्रह होने के कारण प्रायः सभी रस आ गए हैं । शिल्प की द्रष्टि से ये कविताएँ श्रेष्ठ तो नहीं कही जा सकती पर सरस लाक्षणिक प्रयोगों का पाचुर्य कवि की विकासशील कला का द्योतक है । भाषा एक जैसी है - ब्रज का प्रभाव शेष है और खड़ी बोली का संस्कृतगर्भित रुप मिलता है । विविध विषयों पर पद्यबद्ध विचार गुप्तजी के राष्ट्रकवि रुप का पूर्वाभास देते है और गुप्तजी के भावी विकास की ओर संकेत करते हैं ।

(4) भारत – भारती :-

इस कृति का रचनारंभ रामनवमी सन् 1912 को हुआ और समाप्ती जनमाष्टमी सन् 1913 को की गई । प्रायः 16 महिनों में रची गई । इसकी रचना में कवि ने हाली और कैफी के मुसद्दसों से लाभ उठाया । उसकी रचना-पद्धति और ऐतिहासिक टिप्पणियों को कवि ने 'भारत-भारती' की रचना के समय अपने सन्मुख रक्खा है ।

यह पुस्तक जातिभेद से अलग पूरे राष्ट्र को एक सबल संदेश सुनाती है । भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना की जागृति में इसका बहुत बड़ा हाथ है । 1920 के आसपास के राजनीतिक आंदोलन चले थे उस समय 'भारत-भारती' के पद नगरों और गाँवों में प्रत्येक हिन्दी भाषी के कंठ पर थे । द्विवेदीजी ने संपादकीय टिप्पणी लिखी है कि सरस्वती के सिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने नवीन काव्य की रचना की है । उसका नाम है 'भारत-भारती' । अपूर्व काव्य है । हाली साहब के 'मुसद्दस' के ढंग का है । पद्य-संख्या 700 के लगभग है । उसमें भारत के उत्थान और पतन आदि का वर्णन है । ''यह काव्य **वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करनेवाला है** । यह सोते हुओं को जगानेवाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लानेवाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्व-स्मृति

दिलानेवाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करनेवाला है, उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है । यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में सहायक हो सकता है । **इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती** । इसमें हम लोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है - उनमें फिर सजीवता आ सकती है । 'भारत-भारती' के समकक्ष राष्ट्रीय काव्य में इसके बाद कोई ऐसी दूसरी पुस्तक नहीं आई, जो ग्राम और नगरों में समान भाव से आबाल-वृद्ध-नारी को कंठस्थ हुई हो । 'भारत-भारती' प्रारंभिक हिन्दी की अंतिम परिणति है ।''(49) 'भगवान ! भारत-वर्ष में गूंजे हमारी भारती ।' इसका यह वाक्य स्वभाषा, स्वदेशी और स्वतंत्रता इन तीनों के सौन्दर्य का उपस्थान करनेवाला मूलमंत्र था।

प्रायः अभिधा का ही प्रयोग होते हुए भी शैली का प्रवाह एवं भाषागत ओज इस काव्य को दीप्ति प्रदान करते है, और भावनाओं को उद्रेलित करते हैं । दोषों के रहते हुए भी 'भारत-भारती' सर्वश्रष्ठ है । गुप्तजी सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय रचना 'भारत-भारती' को कवि ने तीन खण्डों में लिखा है । यह एक उद्‌बोधनात्मक काव्य है । इस रचना को प्राचीन खण्ड, वर्तमान खण्ड और भविष्य खण्ड में विभक्त किया है । **प्राचीन खण्ड** में भारत की श्रेष्ठता का तथा पूर्व-पुरुषों की महत्ता का वर्णन किया गया है । **वर्तमान खण्ड** में भारत की अवनति पर क्षोभ प्रदर्शित किया गया है । और **भविष्य खण्ड** में शुभकामना व्यक्त की गई है ।

(5) शकुन्तला :-

'शकुन्तला' काव्य का रचनारंभ सन् 1908 में सरस्वती में प्रकाशित पद्य निबंधो के रुप में हुआ । 'शकुन्तला पत्रलेखन', 'शकुंतला को दुर्वासा का शाप', 'शकुन्तला को कण्व का आर्शीवाद', 'पूर्व-स्मृति' आदि विषय चित्रों के आख्यानक रुप में छपे । सन् 1914 में यह कृति प्रकाशित हुई । 'अभिज्ञान शाकुंतल' की कथावस्तु के अनुरुप क्रम-बद्ध किया है । कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' रुपक को समक्ष रखकर ही की । अधिकांश स्थलों पर निस्संदेह कालिदास का अनुवाद है । मौलिकता संक्षेपण और उपस्थितीकरण में है । नाटक की वस्तु को काव्य में परिवर्तित करने में है । यह मौलिक कृति न होने पर भी स्वतंत्र रचना होने का आभास देते है ।

'शकुन्तला' गुप्तजी की नारी-चित्रण प्रधान कृति है । इस रचना में शकुंतला की प्रेम-कथा के विविध प्रसंगो को अन्वित किया गया है, सुविन्यस्त कथानक की नियोजना का प्रयास नहीं हुआ है । इसे 'निरा पद्यात्मक प्रबंध' भी कहा गया है ।(50) इसका विषय विभाजन प्रसंगों के आश्रय से हुआ है । 'उपक्रम' में मूलकथा की रसात्मकता को तथा शकुंतला के आकर्षक चरित्र के महत्व को

प्रगट किया गया है । 'जन्म और बाल्यकाल' में शकुंतला के जन्म और कण्व के आश्रम में उसके लालित-पालित होने के वृतांत का संक्षेप में विवरण दिया गया है । 'दर्शन' में शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रथम भेंट का वर्णन करते हुए कवि ने दोनों के मन में पूर्वराग का उदय दिखाया है । पत्र,अवधि, अभिशाप, विदा, त्याग, स्मृति, कर्तव्य, मिलन आदि शीर्षकों में 'शकुन्तला' की कथावस्तु विन्यस्त हुई है । जिसमें प्रेम की चरम परिणति ही प्राप्त है ।

शकुन्तला के चरित्र में आत्म-गौरव की प्रवृत्ति और नारी-सम्मान की भावना का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है । कवि ने प्रेम का ग्राहर्यस्थिक और मर्यादित, परन्तु उत्कट रुप उपस्थित किया है तथा कर्तव्यनिष्ठ बनाया है । इस रचना में छंद-योजना वैविध्यपूर्ण और पदावली प्रवाहमयी है । खड़ी बोली का लालित्य सर्वप्रथम इसी में द्दष्टिगत होता है । इस रचना ने सिद्ध कर दिया कि ब्रज के समान ही खड़ी बोली में कोमल भावनाओं की सुष्ठु अभिव्यंजना संभव है ।

(6) तिलोत्तमा :-

यह एक पौराणिक नाटक है, सन् 1915 में प्रकाशित हुआ । पाँच अंक है । इन्द्र आदि देवता प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान हैं - किन्तु वे विजय प्राप्ति में समर्थ नहीं, तिलोत्तमा ही उसमें सफल होती है । अतः इसे नायक प्रधान मानें या नायिका-प्रधान यह एक विवादास्पद विषय है ।

सभी शास्त्रीय गुण मिल जाने पर भी तिलोत्तमा में आधुनिक द्रष्टि से चरित्र-चित्रण जैसे महत्वपूर्ण तत्व का अभाव है । कथा का विकास तो संस्कृत की नाट्य-शैली का इसमें अनुवर्तन किया गया है । इस नाट्य-रचना का उद्देश्य है - "**होता है बन्धु-विरोध जहाँ, है सर्वनाश ही उचित वहाँ ।**"[51] इसमें सुरों और असुरों के संघर्ष का वर्णन किया गया है ।

श्रृंगार रस से पोषित वीर रस की कृति प्रस्तुत करना कवि को इष्ट था । पर नायक की समस्या हल न होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति सदोष हो गई । अतएव यह रचना रसात्मक रचना न हो सकी । इन्द्र को नायक मान लेने से अथवा तिलोत्तमा को प्रधन पात्र समझ लेने से यह सुखांत कृति जान पड़ती है । तिलोत्तमा में संस्कृत की नाट्य-पद्धति के बाह्य उपादान गृहीत हुए हैं, मूलभूत तत्व नहीं । यह उनकी प्रौढ़ कृति नहीं है, अतएव नाट्य-कला की त्रुटियाँ इसमें स्वभावतः विद्यमान है । गुप्तजी की आदर्शवादी जीवन-दृष्टि का नीतिमूलक प्रकटीकरण हुआ है । **इसका कार्य-व्यापार अत्यंत शिथिल है ।**[52]

(7) चन्द्रहास :-

'चन्द्रहास' एक पौराणिक रुपक है । ये सर्वप्रथम सन् 1916 में प्रकाशित हुआ । इसमें प्रतिपाद्य है भाग्यवाद नियति जो चाहती है वही होता है, उसकी इच्छा के बिना मानव अपने बुद्धि कौशल से कुछ करने में असमर्थ है । एक प्रकार से मनुष्य निमित्त मात्र बन जाता है ।

तिलोत्तमा की भाँति चन्द्रहास में भी पर्याप्त पद्यांश रखे गए हैं, संस्कृत नाट्य रचना की पद्धति अपनाई गई है तथा अतिप्राकृत तत्व की नियोजना हुई है, पर 'चन्द्रहास' में चरित्र-चित्रण करने की सचेष्टता दिखाई पड़ती है । नान्दी के पश्चात नट-नटी के वार्तालाप से नाटक का प्रारंभ होता है और समाप्ति भरत-वाक्य से होती है । पात्रों के व्यक्तित्व में विकास का अभाव है , वे प्रायः आरंभ से अंत तक एक रस है ; आलोचक की द्दष्टि में यह अक्षम्य दोष है । देश-काल की दृष्टि में भी असफल है । सभी घटनाएँ अभिनेय हैं पर स्थल-स्थल पर नियति का प्रवेश बहुत बड़ा दोष है । नियति के संबंध में गुप्तजी का निर्देश है कि 'नियति का प्रवेश सर्वत्र अदृश्य भाव से है । उसे केवल दर्शक देख सकेंगे ।'(53)

कथानक को पाँच अंको में और प्रत्येक अंक को चार दृश्यों में विभाजित किया गया । चन्द्रहास का वस्तु-विन्यास वर्णनात्मक शैली में किया गया है, जो खण्डकाव्य की समीपी वस्तु है । उसका शील-निरुपण भी सदोष है । यह एक नाट्य प्रयोग है, सफल प्रयोग नहीं । गुप्तजी की अभिव्यक्ति स्पष्ट, सरल और भावमयी है । यह आदर्शवादी कृति है और नीतिवादी नाट्याभिव्यक्ति ।

(8) पत्रावली :-

ऐतिहासिक आधार पर लिखित सप्त पद्यात्मक पत्रों का संग्रह-पत्रावली सन् 1917 में प्रकाशित हुआ था । इनमें तो तीन पत्र 'राजसिंह', 'पृथ्वीराज' और 'औरंगजेब' के पत्र क्रमशः सरस्वती में फरवरी, मार्च और अप्रैल 1912 में प्रकाशित हुए थे । नवम्बर 1913 की सरस्वती में 'राणा प्रताप' का पत्र छपा और 'अहिल्याबाई' का पत्र मई 1914 की सरस्वती में 'शिवाजी', 'रुपवती' और 'सीसोदनी' के पत्र सन् 1915-16 में रचे गए । महाराणा राजसिंह का पत्र 'पत्रावली' में संकलित नहीं हुआ । इस तरह 'पत्रावली' में गुप्तजी ने सात पद्यबद्ध पत्रों का संग्रह किया है । सभी पत्र ऐतिहासिक आधार पर रचे गए हैं और पद्यात्मक है । स्वयं कवि ने इन्हे पत्र-गीति नहीं माना है , वरन् इन्हें पद्यात्मक पत्र कहा है ।(54)

प्रथम पत्र में राणा प्रताप के वीरोत्साह को उद्दीप्त करने का प्रयत्न किया गया है । दूसरे पत्र में राणा प्रताप को अपनी जातीय गौरव में आश्वस्त दिखाया गया है । तीसरे पत्र में जजिया-कर का विरोध प्रदर्शित किया गया है । चौथे पत्र में औरंगजेब का अनुताप प्रकट हुआ है । पाँचवे पत्र में क्षत्रियाणी का आक्रोश वर्णित हुआ है । छठे पत्र में आक्रमणकारी राघोबा को अहिल्याबाई का संदेश है और अंतिम पत्र में रुपमती ने राणा से प्रेम-याचना की है और धर्म-रक्षा की माँग की है । ये पत्र वर्णनात्मक है । विषय वस्तु की दृष्टि से इन्हें क्रमशः उद्बोध-पत्र, कृतज्ञता-पत्र, विरोध-पत्र, अनुताप-पत्र, अनुनय-पत्र, प्रबोध-पत्र तथा प्रेम-पत्र कह सकते हैं ।

इनमें राजपूतों, राजपूत रानियों तथा अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों की तत्कालीन मनोवृत्तियों का चित्रण हुआ है । गुप्तजी ने पात्रों के व्यक्तित्व की एवं ऐतिहासिक महत्व की रक्षा की है ।

भाषा की दृष्टि से इस कृति में खड़ी बोली का स्वरुप उभर आया है, ब्रज का प्रभाव कम है पर संस्कृत की और आकर्षण है ।

(9) वैतालिक :-

'वैतालिक' की रचना सन् 1917 में हुई और उसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् 1918 में । गुप्तजी ने इस युग की अपनी राष्ट्रभावना का प्रकर्ष 'वैतालिक' में प्रकट किया हैं । इसे एक लम्बा जागरण-गीत कहा गया है ।[55] यह जागरण-गीत सवा सौ हाकलि छंदो में प्रसारित है । वह एक लम्बी गीति-रचना है तथा जागरण का भावानुबन्ध लिए हुए है । शुक्लजी का कथन है कि ''वैतालिक की रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीति काव्य प्रस्तुत करने की ओर हो गई थी ।''[56] इसमें जागरण की भावना पूर्णतः अन्वित है, पर उसका अनुबंध प्रगीतात्मक न होकर खण्डकाव्यात्मक है । यह कवि की एकांतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं है इसे गीतिकाव्य के किसी भी भेद में परिगणित नहीं की जा सकती । उषा ने आँगन लीप दिया और कवि ने चिरकाल से सोये हुए देशवासियों को जगाने का उपक्रम किया, 'वैतालिक' देश को जगाता हुआ उपदेश भी देता गया । उसने दार्शनिकता प्रकट की तथा प्रकृति को जीवन के सानिध्य में देखा । प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रति कवि आकर्षित हुआ, पर उसका वर्णन सप्रयोजन किया गया । इस उद्बोधनात्मक काव्य में भारतीयों को अपनी संस्कृति के साथ पाश्चात्य संस्कृति का सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रेरित किया गया है ।

(10) किसान :-

'किसान' खण्डकाव्य की रचना सन् 1915 में हुई और पुस्तकाकार प्रकाशन सन् 1917 में हुआ । इसमें भारतीय किसान के उत्पीड़ित जीवन का करुण चित्रण छन्दोबद्ध हुआ है । इस खण्ड काव्य को कवि ने सर्गो में विभाजित करके आत्मकथात्मक शीर्षकों में विभाजित किया है । 'प्रार्थना', 'बाल्य और विवाह', 'ग्रार्हस्थ', 'सर्वस्वांत', 'देशत्याग तथा फिजी' और 'अंत' शीर्षकों के माध्यम से किसान के जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है । 'किसान' एक आत्म-कथात्मक खण्डकाव्य है और कल्लू जातीय विशेषताओं से संयुक्त पात्र । कल्लू काल्पनिक पात्र है । उसकी दुरवस्था भारतीय कृषक की ही करुण-कथा है । यह किसान की कष्ट-कथा का विवरण ही है । इसमें कृषक के सरल-स्वभाव, अथक परिश्रम और वीरत्व का चित्रण करते हुए उसकी प्रतिकूल परिस्थितियों की दारुणता का आलेखन किया गया है ।

यह एक भावनाशील आख्यान वर्णन है । गुप्तजी ने इसमें कृषक-समस्या, कुलीप्रथा, सैनिक जीवन आदि सामयिक विषयों का निरुपण करते हुए अनैतिक कार्यो और सदोष आचरणों को अनिष्टकारी सिद्ध किया है । पुलिस, जमींदार, महाजन, शासनाधिकारी, आरकारी आदि समाजिक जीवन की विकृतियाँ हैं। किसानों के प्रति सहानूभूति की उद्‌भूति का वर्णन है, अतएव उनकी दारुण दशा का कारुणिक चित्र उपस्थित हुआ है । जिससे काव्य में करुण का प्राधान्य है ।

किसान के जीवन की यह सबसे बड़ी विडंबना है कि वह फसल तैयार करके अन्य जीवों तक पहुँचाता है पर खुद अपने परिवार के लिए भरपेट अन्न की व्यवस्था नहीं कर पाता । कल्लू अरकारियों के चंगुल में फँस जाता है और उसे फीजी द्वीप में कुली बनाकर भेजा जाता है । उस वक्त ओवर सियर की नृंश सता से उसकी पत्नी की मृत्यु होती है । महायुद्ध के समय भारत आने पर वह सेना में भर्ती होता है । अंत में उसने टिगरिस तट पर वीरगति पाई है । इसके बाद वह विक्टोरिया क्रास प्राप्त करता है ।

इस काव्य में अभिधा का ही प्रयोग है । भाषा इसकी काफ़ी विकसित एवं व्यवस्थित है - किन्तु उसे प्रौढ़ नहीं कह सकते ।

(11) अनघ :-

'अनघ' एक गीति-नाट्य है जो सन् - 1925 में प्रकाशित हुआ था । वह सतरह खण्डों में विभाजित है । प्रत्येक खण्ड में एक नया दृश्य उपस्थित होता है । इसका कथानक समसामयिक है । 'अनघ' अर्थात 'निष्पाप मध' यह पद्य-नायक का चरित्र-नायक है और उसी को केन्द्र में रखकर नाटक की कथावस्तु का विकास हुआ है । मानवीय पवित्रता अथवा मानवतादर्श का प्रतीक मध है । उसका जीवन वृत गौतम बुद्ध के पूर्व-जीवन की दिव्य गाथा के आधार पर निर्मित किया गया है। 'मध' का व्यक्तित्व स्व. विद्यार्थीजी का साकार रुप है उसका चरित्रादर्श महात्मा गाँधी के आदर्शो का व्यक्त रुप ।[57] गुप्तजी ने बौद्ध संस्कृति से अहिंसा, करुणा और मैत्री का आदर्श ग्रहण किया तथा मानवतादर्श को चरित्र की रेखाओं में उभारा ।

नायक के जीवन में गीति के लिए अनिवार्य आन्तरिक संघर्ष न मिलकर बाह्य संघर्ष मिलता है । पर्याप्त रोचकता की अवस्थिति में भी कथानक सरल एवं स्थूल है । चरित्र-चित्रण में कोई वैचित्र्य नहीं, प्रायः विकास का अभाव है । पर मुखिया का एक व्यवहार-कुशल चतुर सांसारिक व्यक्तित्व के रुप में चित्रण करके गुप्तजी ने चरित्रांकन-कौशल का परिचय दिया है , और मध के भव्य-चरित्र की कल्पना तो नाटक की जान है ही ।

'अनध' की रचना रंगमंच और अभिनेय नाटकों को दृष्टि-पथ में रखकर नहीं की गई । वह दृश्यकाव्य की आकृति मात्र लिए हुए है । उसकी कथावस्तु को संवादमयी सजीव शैली में विकसित किया गया है और दृश्यों में विभाजित । दृश्यों के नाम स्थान - विशेष के आधार पर रक्खे गए है, यथा-अरण्य, चौपाल, मघ का घर, उद्यान, वटच्छाया, चबूतरा, ग्राम-भोजक का घर, मधुवन, एकान्त, मेड़, दग्ध-गृह, कारागार, मगध राजधानी और न्याय-सभा । मघ के घर के, उद्यान के तथा चौपाल के दो-दो दृश्य रक्खे गए हैं ।

'अनध' की कथावस्तु प्राचीन वातावरण को लिए हुए है, पर उसकी चरित्र-कल्पना, कार्य-पद्धति, प्रसंग-सृष्टि और जीवनादर्श की अभिव्यक्ति आधुनिक युग चेतना से स्पन्दित है ।

गुप्तजी ने गाँधीजी के राजनीतिक कार्यों को प्रस्तुत नहीं किया, वरन् उनके सामाजिक कार्यो और मानवतावादी प्रयत्नों को प्रस्तुत किया । मघ का चरित्र-चित्रण गाँधीजी के आदर्शो के अनुकूल किया गया । अछूतोद्धार, ग्राम-सुधार, मध-निषेध, लोकसेवा के कार्य, अहिंसक आचरण, शत्रु के वैर का प्रेम के द्वारा शोधन, धार्मिक संकीर्णता और जातीय मनोवृति का त्याग करके मानवता के आदर्शो का प्रचार, सत्याग्रह की प्रवृत्ति, पापी से प्रेम और पास से घृणा, सदाचरण, कष्ट-सहिष्णुता, जीवनादर्श की द्रढ़ता, आदि गाँधीजी के सिद्धांतो के ही सक्रिय स्वरुप हैं । बुद्ध के करुणा और त्याग के आदर्शा में गुप्तजीने गांधी-दर्शन के व्यावहारिक आदर्शो को समन्वित कर दिया है । इस प्रकार यह एक आधुनिक कृति है, और इसके अतिरिक्त ग्रामीण जीवन तथा कृषि-सभ्यता का चित्रण भी हुआ है ।

गुप्तजी ने इस में बहुत छोट-छोटे छंद चुने हैं, पर उनमें स्पष्टता विद्यमान हैं, हाँ पर्याप्त सजीवता नहीं आ सकी है । गुप्तजी का विपुल छंदाधिकार अवश्य प्रकट हुआ है । संस्कृत की नाट्यशैली का परित्याग किया गया है । हिन्दी के नवीन नाट्यशिल्प का इसमें आरंभिक स्वरुप-परिचय प्राप्त होता है ।

(12) पंचवटी :-

'पंचवटी' प्रसिद्ध खण्डकाव्य है । ये सन् 1925 में प्रकाशित हुआ था । यह गुप्तजी के काव्य-विकास में ऐतिहासिक महत्व है । इसका कथानक रामचरितमानस के शूर्पणखा प्रसंग पर आश्रित है । कवि ने इसमें मौलिक संयोजनाएँ की है । कवि ने अपनी लेखनी के स्पर्श से अधिक विश्वसनीय, अधिक मानवीय एवं अत्याधिक रोचक तथा आकर्षक बना दिया है । करुण-मधुर, हास्य-विनोद ने इसे और भी सजीवता प्रदान की है ।

परंपरा के अनुसार पात्रों का चरित्र - चित्रण होते हुए भी इसमें कवि के द्रष्टिकोण पर आधुनिकता की छाप है । पंचवटी के कथानक में ही नवीनता का प्रचुर मात्रा में विनियोग हुआ है ।[58] लक्ष्मण का आत्म-संलाप, शूर्पणखा का उनसे एकांत मिलन और उसकी प्रणय-याचना, दोनों की तर्कमयी उक्तिमत्ता, लक्ष्मण की अपेक्षा राम को कोमल समझकर उन्हीं के प्रति शूर्पणखा का प्रणय-निवेदन, एक ही आदर्श को तर्क के रुप में प्रस्तुत करके राम और लक्ष्मण दोनों के द्वारा उस प्रस्ताव की अस्वीकृति, शूर्पणखा के कथन, कृत्य और उग्र रुप, लक्ष्मण के द्वारा शूर्पणखा का विरुपीकरण, पारिवारिक-उल्लास, देवर-भाभी परिहास, पात्रों की स्वाभाविक चेष्टाएँ, परिस्थितियों तथा मनोभावनाओं का घात-प्रतिघात, आदि पंचवटी में विन्यस्त हैं । इनमें शूर्पणखा के नासिकाच्छेदन के अतिरिक्त सभी प्रसंगो की नवीन उद्भावना की गई है ।

'पंचवटी' के लक्ष्मण रामचरितमानस के लक्ष्मण की तरह राम के अनन्य सेवक होते हुए भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते है । उनके अपने निजी सुख दुःख, कोमल कठोर आदि भाव है जो एकांत में उनके मानस को झकझोरते है । रामचरितमानस की शूर्पणखा ने विवाह प्रस्ताव पहले राम से किया था तत्पश्चात् लक्ष्मण से, किंतु यहाँ कवि ने उसके क्रम में परिवर्तन कर दिया है । राम उसका तिरस्कार अनुजवधू कहकर निराश कर देते हैं और लक्ष्मण पूज्य आर्य का वरण करने की कामना व्यक्त कर देने के कारण उसे निराश कर देते हैं सीता 'प्रथम देवरानी फिर सोत' कहकर उसका उपहास करती है ।

'पंचवटी' की निराश शूर्पणखा के प्रणय प्रस्ताव का प्रारंभ बहुत मनोवैज्ञानिक रीति से हुआ है किंतु उसकी परिणति अति मानवीय स्तर पर करके गुप्तजी इस पात्र के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं ।

'पंचवटी' काव्य की वर्णनशैली अत्यंत मोहक है । एक ओर चरित्रों का उत्कर्ष कवि ने ध्यान का केन्द्र रहा है तो दूसरी ओर प्रकृति वर्णन में छायावादी वैशिष्ट्य भी है । इस काव्य में रम्य प्रकृति का स्वच्छन्द रुप चित्रित हुआ है और प्रायः मानवीय कृत्यों तथा मनोविकारों की पृष्ठभूमि के रुप में रक्खी गई है । स्थान, समय और परिस्थिति का चित्रण करने के लिए वन्य प्रकृति की सुंदरता का विनियोग हुआ है । गुप्तजी का यह प्रथम काव्य है, जिसमें प्रकृति प्रेम की नई प्रवृत्ति 'पंचवटी' के साथ चरितार्थ होती है ।

गुप्तजी ने लक्ष्मण तथा सीता और राम की साधारण जीवन चर्या चित्रित करते हुए उन्हें स्वावलंबी और श्रमशील दिखाया है । प्रेम और वासना को पृथक करते हुए नारी के उच्चादर्श का

निदर्शन किया है । लक्ष्मण को त्यागी और तपस्वी के रुप में रक्खा है और उनके वीरत्व का नहीं, संयम को प्रत्यक्ष किया है । और यह नवयुग का ही प्रभाव है कि राम-रावण-युद्ध की भूमिका के इस वृत्त को कवि ने नितांत भिन्न अभिप्रेत दिया। 'पंचवटी' एक समृद्ध काव्य रचना है । सात्विक भावना का उत्कर्ष और अपवित्र कलुशता का पराभव उसका लक्ष्य है । पंचवटी में गुप्तजी की विकासशील प्रबंध कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है ।

कला की द्दष्टि से यह पुस्तक पूर्वकृतियों से कहीं श्रेष्ठ है । इसकी भाषा खड़ी बोली निखरी है । यद्यपि वह प्रौढ़ नहीं है तथापि प्रांजल एवं कान्तिमयी है । यहाँ पर गुप्तजी के कृतित्व के प्रारंभिक काल की समाप्ति एवं मध्यकाल का आरंभ होता है ।

(13) स्वदेश – संगीत :-

'स्वदेश - संगीत'| में गुप्तजी के राष्ट्रवादी प्रगीत संग्रहीत हैं । उसका प्रकाशन सन् 1925 में हुआ था । इसमें कुल मिलाकर 65 कविताएँ संग्रहीत हैं । लगभग बारह वर्षो की स्वदेश विषयक गीति-रचना प्रस्तुत की गई । इनमें से अधिकांश कविताएँ भिन्न-भिन्न पत्रों में प्रकाशित हो चुकी थी । इसमें समय-समय पर होनेवाले तत्कालीन आंदोलनो आदि से प्रभावित होकर लिखी गई रचनाएँ है । गांधीजी के राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व की रचनाएँ और उनके नेतृत्व-काल की रचनाएँ दोनों ही इस गीति-संग्रह में संकलित हैं । अत एव इसमें राष्ट्रीय जागरण, मातृ-भूमि -प्रेम, सामाजिक ह्रास के प्रति क्षोभ, उत्थान के लिए प्रार्थना, पर्वो और त्यौहारों का माहात्मय-दर्शन, अतीत कालीन उत्कर्ष के प्रति पूजाभाव तथा हिन्दी भाषा के द्वारा राष्ट्रोन्नयन की धारणा के साथ-साथ स्वातंत्र्य-संग्राम का उत्साह, राष्ट्रीयता का उल्लास, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश, असहयोग आंदोलन का प्रशस्ति-मान, प्रवासी भारतीयों के प्रति संवेदना, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के पारस्परिक संघात से उत्पन्न नवयुग का स्वागत, सांप्रदायिक ऐक्य का आग्रह, हरिजनोद्धार का उच्चार, ध्वज-वंदन तथा स्वातंत्र्य-युद्ध में नारी का आह्वान अभिव्यक्ति पाते हैं । संक्षेप में, राष्ट्रीय जागृति और स्वातंत्र्य-चेष्टा दोनों की 'स्वदेश-संगीत' में गीति-व्यंजना हुई है ।

गुप्तजी की राष्ट्रीयता की भावना आरंभ में अनुग्र थी । वह उदार और सुधारवादी समझी जा सकती है । उसमें विरोध का स्वर अनुदात्त है । आक्रोशमयी और संघर्ष-प्रेरक गीति-रचना करना गुप्तजी के वैष्णव व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है ।

'स्वदेश-संगीत' में राग और उत्साह दोनों की अच्छी व्यंजना हुई है । इसकी संपूर्ण कविताओं के तल में एक ही मूल चेतना होने पर भी उनके शिल्प में वैषन्य है । भाषा शुद्ध खड़ी बोली है । संस्कृत शब्दों का अप्रचलित अर्थो में प्रयोग खटकता है - कुछ ग्रामीण प्रयोग है और क्रियापदों पर ब्रज का प्रभाव भी शेष है ।

'स्वदेश-संगीत' के माध्यम से कवि की नवीन-प्राचीन-समन्वय की भावना, अंग्रेजों के प्रति विद्वेष के अभाव, आदर्शजीवन की कल्पना इत्यादि से सहज रुप परिचित होता है । गुप्त साहित्य में प्रस्तुत 'संग्रह' का ऐतिहासिक महत्व है ।

(14) हिन्दू :-

यह पुस्तक सन् 1927 में प्रकाशित हुई थी । यह एक प्रकार से 'भारत-भारती' की परंपरा में आती है । 'भारत-भारती' में हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ? की हिन्दू राष्ट्रीयता अभिव्यक्त हुई है । 'हिन्दू' में यह शक्ति नहीं है । यह जागरण का काव्य न होकर आग्रह और अनुरोध का काव्य है ।

गुप्तजी की हिन्दूत्व - विषयक धारणा अत्यंत विशद् एवं व्यापक है । अधूत, जैन, एवं बौद्ध ही नहीं कवि ने सिक्खों तक को हिन्दूत्व में अंतर्भूत करने का प्रयत्न किया है । अर्थात् कवि ने हिन्दू धर्म को सभी धर्मो का मूल माना है । यह जातीय जागृति का नीतिवादी काव्य है । कवि का दृष्टिकोण रुढिग्रस्त नहीं है, वह नवीन एवं प्राचीन संस्कृतियों का सुंदर संयोग चाहता है । दोनों के उत्तम गुणों का चयन करके नूतन संस्कृति के निर्माण की कामना की है ।

'हिन्दू' का कवि सांप्रदायिक दंगो से पीड़ित है और 'कला कला के लिए' साहित्य सिद्धांत से असहमत । इसीलिए यह काव्य निराख्यानक कविताओं का पद्य-निबंध संग्रह ज्ञात होता है । 'हिन्दू' में कवि का उपदेष्टा उसके कलाकार पर हावी हो गया है अतः शिल्प अत्यंत निम्न कोटि का है ।

इस काव्य की भाषा संस्कृत-मिश्रित खड़ी बोली है । आरंभ से अंत तक लालित्य एवम् कान्ति का अभाव है जिससे पुस्तक अरुचिकर हो गई है । गुप्त साहित्य में साहित्यिक मूल्य होते हुए भी इसमें कवि के विचार उसकी राजनैतिक विचारधारा, जातिय भावना, जीवन दर्शन एवं साहित्यिक सिद्धांत (भूमिका) स्पष्ट रुप से उपलब्ध है ।

(15) शक्ति :-

यह पुस्तक सन 1927 में प्रकाशित हुई । इस खण्डकाव्य की विषय वस्तु पौराणिक देव-दानव संग्राम है । 'शक्ति' काव्य में गुप्तजी ने चौसठ षट्पदियों के अंतर्गत मार्कण्डेय पुराण 'दुर्गा - सप्तशती' के आख्यान का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है । वे **'संघ शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक'** उक्ति को इस काव्य में चरितार्थ करते हैं । कवि की मान्यता है कि 'व्यक्ति - व्यक्ति में शक्ति अलौकिक रहती है सर्वत्र यदि किसी प्रकार उस व्यष्टिगत शक्ति का एकत्रीकरण हो जाए तो कोई विघ्न-बाधा

सामने नहीं टिक सकती । वस्तुतः यह शक्ति-स्तवन है अर्थात दुर्गा का माहात्मय-वर्णन । कवि का मंतव्य है कि आरंभ में असत् पक्ष प्रबल हो जाता है, पर अन्ततः सत् पक्ष ही विजयी होता है । सत् और असत् का द्वन्द होता रहता है, पर जीवन का लक्षण यही है कि मानव जिए और जूझे । यह प्रतिकात्मक काव्य भी है, जिसमें परमुखापेक्षिता के त्याग का और स्व-शक्ति के संगठन का उपदेश दिया गया है ।

कवि ने युद्ध वर्णन को प्रमुखता दी है अतः इस लघु खण्ड काव्य में वीर रस का परिपाक हुआ है। यत्र-तत्र संवादों तथा नाटकीय प्रसंगो के द्वारा वर्णनात्मक वस्तु-शिल्प को चमत्कारपूर्ण बनाया गया है । युद्ध के कई अच्छे चित्र अंकित हुए है । शक्ति की भाषा समासगुण प्रधान ओजमयी खड़ी बोली है ।

यह राष्ट्रवादी मनोभावना का काव्य है । शक्ति के माहात्म्य वर्णन के द्वारा कवि ने अपनी भक्ति-भावना अभिव्यक्त की है, पर उसी के माध्यम से यह व्यंजना भी हुई है कि भारत वासियों की विदेशी शासन के परतंत्रता-पाश से संगठित जन-शक्ति के द्वारा ही मुक्ति हो सकती है । परतंत्र देश को कवि ने आशान्वित सन्देश दिया है । 'शक्ति' एक उत्कृष्ट रचना है जिसमें कवि की वीर भावनाओं का उन्मेष हुआ है । वैचारिक प्रौढ़ता के साथ काव्य-गुण भी प्रचुर मात्रा में है ।

(16) सैरन्ध्री :-

महाभारत से, अज्ञातवास के समय तक 'सैरन्ध्री' छद्म-नामधारिणी द्रौपदी एवं कीचक के चिर प्रसिद्ध कथानक को लेकर प्रस्तुत काव्य सन् - 1927 में प्रकाशित हुआ था । यह काव्य आकार में लघु है और छप्पय पद्धति में रचा गया है । इसमें द्रौपदी का निष्कलंक चरित्र-चित्र अंकित हुआ है । कवि ने इसे नायिका-प्रधान काव्य में नारी के उज्जवल चरित्र को चित्रित किया है और उसी की मनोभावनाओं को अभिव्यक्त किया है । यह एक वर्णनात्मक खण्डकाव्य है । इसका रचनारंभ भी सरस्वती में राजा रवि-वर्मा के चित्र के साथ 'कीचक की नीचता' कविता के प्रकाशन से ही हुआ ।[59]

'सैरन्ध्री' में पातिव्रत की पवित्रता, नारी की सच्चरिता, दुराचारी का अंत और विपत्तियों के साथ संघर्ष निरुपित करना कवि का लक्ष्य रहा है । अज्ञातवास के समय राजा विराट के अंतःपुर में कीचक की नीचता से द्रौपदी ने किस प्रकार अपने पातिव्रत - धर्म की रक्षा की और विपत्तियों में पड़कर कैसे उसका चरित्रोकर्ष हुआ, इसीका वर्णन इस काव्य में हुआ है। इस काव्य में सतीत्व की रक्षा और धर्म-निष्ठा का उत्कर्ष दिखाते हुए कवि ने पाप-वृत्ति का विनाश और दुष्प्रवृत्त का क्षय निरुपित किया है । इसकी नायिका द्रौपदी और प्रतिनायक कीचक है । द्रौपदी की सात्विक मनोवृत्तियों को उद्घाटित किया गया है । उसके शील-निरुपण के द्वारा सच्चरित्रता का काव्यादर्श व्यंजित हुआ है । इसमें सुदेष्णा स्वयं दुर्लभ नारी है, भीम का पौरुष प्रकट हुआ है । कीचक के चरित्र का स्वयं कवि ने विवरण दिया है कि वह कामुक है और बलात्कार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है ।

सैरन्ध्री की प्रतिपादन शैली सर्वथा नवीन है, सजीव कथोपकथन ने इसे नूतन जीवन प्रदान किया है । इस की दृष्टि काव्य सफल है । अधिकांशतः करुण रस की सृष्टि हुई है, एकाघ स्थान पर भयानक भी है ।

(17) वन–वैभव :–

प्रस्तुत काव्य सन् 1927 में प्रकाशित हुआ था । इस काव्य के कथानक का आधार महाभारत है । यह एक लघु खण्डकाव्य है ।

हिन्दु–मुसलमानों को सांप्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय स्तर पर यह समाधान भी रक्खा है कि कौरवों जो भी है पांडवो के भाई हैं, उसी प्रकार मुसलमानों ने चाहे अत्याचार किये भी हों, पर वे हिन्दुओं के भाई ही हैं, अतएव दोनों को संयुक्त रुप से विदेशी शासन से मोर्चा ले और अन्याय आदि के विचार दोनों मिलझुलकर करें ताकि विदेशी शासन आपसी फूट का लाभ न उठाए । इस तरह कवि ने राष्ट्रीय समस्या और उसका गाँधीवादी समाधान इस काव्य में व्यंजित किया है । और कवि ने महाभारतीय कथा–वस्तु को नवीन अभिप्रेत भी दिया ।

कवि ने दुर्योधन का पूरा वैभव दिखाया है, पर वह भौतिक वैभव है । आश्रमवासी जीवन का पवित्र शील इससे कहीं श्रेष्ठ है । युधिष्ठर का वन–वैभव वस्तुतः चरित्रगत वस्तु है, उनका शील उच्चाशयी, नीति–निष्ठ और सद्प्रवृत है । दुर्योधन प्रतिनायक है । उसने युधिष्ठर को अपने भौतिक वैभव से लज्जित करने का प्रयास किया है, पर असत् प्रवृत्ति के कारण वह कृतकार्य न हो सका । द्रौपदी और भीम प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त है । चित्ररथ और अर्जुन गौण पात्र है । इनके उदात्त वीरत्व को भी प्रकट किया गया है । पर युधिष्ठिर की आदर्श मानवता को ही चरितार्थ करने का प्रयास किया है ।

इस काव्य में करुणा की भावना सर्वोपरि है । मुख्यतः शांतरस की व्यंजना ही की गई है । कोमल भावों को प्रमुखता दी है । इस काव्य में एक राजनीतिक द्रष्टिकोण भी प्रकट हुआ है । भाई–भाई के शत्रुता होते हुए भी यदि कोई दूसरी शक्ति आक्रमण करे तो पारस्परिक बैर–भाव को भूलकर उन्हें एक हो जाना चाहिए । यह कवि की राष्ट्रवादी मनोवृत्ति का उद्‌गार है। और द्रौपदी के करुणा–स्निग्ध चित्र तो बरबस ही पाठक को आकृष्ट कर लेते है ।

'वन–वैभव' में गुप्तजी की मंजती हुई कला का आभास निस्संदेह वर्तमान है इसका संपूर्ण महत्व युधिष्ठिर के भव्य चरित्र पर अवलम्बित है । गुप्तजी ने युधिष्ठिर को उदात्त रुप में प्रस्तुत किया है । गुप्तजी लोभवश किए गए युद्ध के विरुद्ध हैं – किंतु धर्मार्थ होनेवाले युद्ध के पक्ष में है – धर्म की हानि में युद्ध को अनिवार्य मानते है ।

(18) वक-संहार :-

'वक-संहार' का प्रकाशन सन् 1927 में हुआ था । इस काव्य का प्रतिपाद्य महाभारत की चिर प्रसिद्ध कथा है । 'वक-संहार' काव्य का नामकरण प्रमुख घटना अथवा कार्य के आधार पर ही हुआ है । कवि का लक्ष्य कुन्ती के चरित्र को प्रधानता देना और अतिथि तथा आतिथेय के धर्म का आख्यान करना है ।

गुप्तजी कुन्ती से कहलाते हैं कि प्रजा न्यायार्थ अवश्य ही लड़ें; यदि राजा प्रजा-पालक नहीं है तो दूसरा व्यक्ति राजा बनाया जाय, क्योंकि राज्य प्रजा का है और उसी के लिए है । यह काव्य चरित्र-प्रधान और विचारात्मक खण्डकाव्य की सृष्टि करने में प्रवृत्त हुआ है । वस्तु-शोधन की प्रवृत्ति और नारी-चरित्र को प्रधान पद पर प्रतिष्ठित करने का कार्य दोनों नियोजित हुए हैं । इस में परोपकार की प्रवृत्ति सक्रिय हुई है । कुन्ती की करुणाशीलता ही इस काव्य का प्रतिपाद्य है ।

इस काव्य की मुख्य पात्री कुन्ती है । वे तेजस्वी रमणी हैं, जिन्होंने राज्य-धर्म का आदर्श व्यक्त किया है और प्रत्युपकारर्थ पुत्र-बलि के महान त्याग को चरितार्थ किया है । वे करुणाशील और त्यागमयी है । मातृ-हृदय मर्म-व्यथा से पीड़ित हुआ है । दूसरा पात्र ब्राह्मण है, जिसके माध्यम से कवि ने आदर्श गृहस्थ का त्यागशील और अतिथि-सेवी-रुप चित्रित किया है । तीसरे पात्र भीम हैं, जिन्होंने दुष्टदलन का शूरोत्साह व्यक्त किया है ।

यह करुण रस का काव्य है , पर इसमें सप्रसंग वात्सल्य, प्रेम, उत्साह आदि मनोभावों की व्यंजना भी की गई है । कवि का शिल्प वक-संहार में और भी निखरा हुआ है । इसके अतिरिक्त शब्द-मैत्री, उक्ति-सौंदर्य एवं अप्रस्तुत-विधान भी सराहनीय है । और सजीव-संवादों के कारण तो पुस्तक की रोचकता द्विगुणित हो गई है ।

(19) विकट - भट :-

गुप्तजी की यह सर्वप्रथम अतुकान्त काव्य-पुस्तक है । जिसका प्रकाशन सन् 1928 में हुआ । राजपूत इतिहास की एक अप्रसिद्ध पर शिक्षाप्रद कथा है ।

'विकटभट' की कथा अत्यंत आकर्षक एवं हृदयद्रावक हैं । इस ओजस्विनी पुस्तिका में राजपूती आन, उनके दर्प-अभिमान आदि का अच्छा वर्णन हुआ है जो वातावरण के सृजन में सफल है । 'विकट-भट' ओजमयी आख्यानक निबंध-रचना है । जोधपुर राज्य के इतिहास से लिया गया आख्यान है । वर्णनात्मकता को नाटकीय स्वरुप दिया गया है और यत्र-तत्र ओजस्वी संभाषण नियोजित किये गए है ।

एक दिन जोधपुर के मद्यप राजा विजयसिंह पोकरण के सामंत देवीसिंह से पूछ बैठे कि वे रूठ जाएँ तो क्या करें ? स्वामिभक्त देवीसिंह ने संक्षिप्त में उत्तर देते हुए कहा कि वह 'नव कोटि मारवाड़' को उलट दें , क्योंकि जोधपुर तो उसकी कटारी की पर्तली में पड़ा रहता है । इस दृप्त उत्तर के लिए देवीसिंह को दूसरे ही दिन मरना पड़ा और पोकरण पर आक्रमण होने पर उसके पुत्र सबलसिंह को भी युद्ध में वीर-गति प्राप्ति हुई । इस घटना के बाद बारह वर्षीय सवाई सिंह, जो देवीसिंह का पौत्र था, पोकरण सामंत बना । उसकी विधवा माता ने उसे वीर-दर्प शिक्षा दी । उसे जोधपुर बुलवाया गया । उसके सभागृह में प्रविष्ट होने के वर्णन में गुप्तजी की चित्रण-कला का विकास प्रकट करता है ।

इसके संवाद अत्यंत सजीव एवं नाटकोचित हैं । पाठक को ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके सामने ही बात-चीत हो रही हो । भाषा शुद्ध खड़ी बोली है, उसके ओजमय रुप के दर्शन होते हैं । यह भावनामयी विराख्यानक निबंध-रचना है , जिसमें मध्ययुगीन राजपूतों की विलक्षण जातीय विशेषताओं का वीरत्व-प्रदर्शक चित्रण किया गया है । राष्ट्रीय शौर्य को उत्तेजित करना इसका उद्देश्य है, पर उसे शब्दबद्ध न करने की कलात्मकता का यहाँ निर्वाह भी हुआ है ।

(20) गुरुकुल :-

यह कृति सिक्ख गुरुओं की जीवनी एवं उनके जीवन-कृत्यों का विवरण है । इसका प्रकाशन सनं 1928 में हुआ । सिक्ख-गुरुओं के जीवन-चरित पर उसने धारावाहिक शैली में आख्यानक पद्य-निबंधो की रचनाएँ की । इससे दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हुई (1) सिक्खों के प्रति किए गए अत्याचारों को प्रस्तुत करके मुसलमानों को यह बताया जा सका कि राष्ट्रीय हित सामाजिक संगठन में तथा जातीय एकता में है, धार्मिक अथवा जातीय विद्वेष में नहीं। (2) कवि धार्मिक समन्वय के सिद्धान्त को भी प्रतिपादित कर सका । सब धर्म मूलतः एक हैं, क्योंकि मानवता का अकल्याण किसी भी धर्म को अभीष्ट नहीं है ।

इसमें महात्मा गाँधी के दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है, क्योंकि - ''अपनी राष्ट्रीयता के लिए जिस धर्म की स्थापना वे चाहते थे, वह केवल हिन्दू धर्म न होकर सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म था। ····· सर्वधर्म - सहिष्णुता तथा सर्वधर्म-समभाव उनके सत्याग्रह का एक आवश्यक व्रत है । **सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है, सत्य ही परब्रह्म है,** यह उक्ति उनके अध्यात्म-ज्ञान का रहस्य ठीक तरह से प्रकट करती है । अध्यात्म के और सर्व-व्यापक मानव-धर्म के इसी आधार पर वे आधुनिक भारत का निर्माण करना चाहते थे और इसीलिए हिन्दू, मुसलमान, इसाई जैसे क्षुद्र भेदाभेद उनके हृदय को छू तक नहीं सकते थे ।''(60)

गुप्तजी इसी सामाजिक विषमता को दूर करने की दृष्टि से हिन्दू-मुसलमानों की एकता और सिक्ख-हिन्दू धर्म के समभाव पर बल देते है । 'गुरुकुल' उत्कर्ष-कालिक रचना है, पर उनकी मानसिक तैयारी ही नहीं, वस्तुचयन संबंधी कार्य भी इसी निर्माणावस्था में आरंभ हुआ । गुप्तजी का कार्य सिक्ख-गुरुओं का वर्णन करते हुए अन्याय तथा अत्याचार का वीरता पूर्ण प्रतिरोध प्रदर्शित करना था, अतएव उन्होंने ऐतिहासिक ही नहीं धार्मिक तथा जीवनी-साहित्य को भी देखा ।

यह प्रबन्ध - काव्य है । इसमें काव्य-गुण प्रायः क्षीण हैं - रस का एकान्तभाव न होते हुए भी यह नीरस एवं शुष्क है । कवि ने एक सिक्ख सज्जन की प्रार्थना अथवा अनुरोध पर प्रस्तुत काव्य का निर्माण किया है ।[61] बौद्धिकता के प्राधान्य के कारण सूक्तियाँ तो अनेक है, करुण उक्तियाँ एवं वीर घोषणाओं की भी कमी नहीं पर क्षीणता है रस की । शिल्प की दृष्टि से 'गुरुकुल' सफल है । ध्वनि-चित्रण, अपूर्व अप्रस्तुत-विधान, सटीक उपमान एवं सूक्ष्म वर्ण-योजना आदि गुरुकुल की अपनी विशेषताएँ हैं ।

भाषा शुद्ध खड़ीबोली है । संस्कृत के शब्दकोष का आश्रय ग्रहण किया है । प्रांतिक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है । इसके संवाद में सजीवता तथा चमक है । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत काव्य में युगीन प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

(21) झंकार :-

मैथिलीशरण गुप्त के आध्यात्मिक गीतों का संकलन 'झंकार' सन् 1930 में प्रकाशित हुआ । पर इसकी रचना हुई सन् 14 से 15 के बीच में । 'झंकार' रहस्यभावना पर आधारित गीतिकाव्य ही है । गुप्तजी ने रहस्यमय प्रगीत लिखे हैं , पर यह उनकी अनुषंगिक और परिस्थितिजन्य प्रवृत्ति है, प्रधान और स्वभावगत नहीं । 'झंकार' इनकी एकमात्र ऐसी कृति है, जिसमें स्वयं कवि काव्य का आश्रय है, आत्माभिव्यंजना ही काव्य का प्रतिपाद्य है और ईश्वराधना ही अभिप्रेत है । इसी प्रगीत-रचना में गुप्तजी ने विषय-कथा, पात्र या प्रसंग किसी का माध्यम नहीं रक्खा है । यह विषयी-प्रधान विशुद्ध गीतिकाव्य है ।

'झंकार' का महत्व दो प्रकार का है : (1) छायावादी काव्य-धारा के आरंभिक विकास में 'झंकार' की प्रगीतियों का अविस्मरणीय स्थान है । (2) गुप्तजी के काव्य-विकास में प्रगीत-शैली के कारण अभिव्यक्ति का वैविध्य उत्पन्न हुआ तथा वस्तु-शिल्प में स्वानुभूति - व्यंजना की प्रत्यक्ष पद्धति व्यजंना की प्रत्यक्ष पद्धति व्यवहृत हुई ।

कवि ने ईश्वर को राम, कृष्ण और मानवता के रुप में अनुभव किया है । उसकी वैष्णव भावना रवीन्द्रनाथ की 'गीताजंली' की भाव-धारा से संयुक्त हुई है । स्पष्टतः कवि की स्वानुभूति-व्यंजना कोई दार्शनिक उपक्रम न होकर उसकी भावुकता का ही उच्छ्वास है ।

अपने समसामयिक प्रगीतों की तुलना में 'झंकार' की रचना सुष्ठु, ऋजु, संयत और भावमयी दिखाई पड़ती है । वचन-वक्रता के द्वारा उसने भाव-भंगिमाओं का अच्छा चित्रण किया है । कहीं-कहीं शिथिल और व्याकरण असंमत प्रयोग मिल जाएँगे , जैसे 'मैंने पहचान न पाया' अथवा 'मैंने भर पाया' । तुकांत में 'आह-वाह' जैसी निरर्थक शब्द-योजना भी मिलेगी । कहीं स्निग्ध कला है तो कहीं नीरस तुकबंदी । कहीं-कहीं ध्वनि-चित्रण, गति-चित्रण, मानवीकरण आदि के उदाहरण मिल सकते हैं, व्यंजनापूर्ण विशेषणों एवं प्रतीकों का भी सफल प्रयोग हुआ है । भाषा भावानुकूल ही सरल-चपला, मंथर अथवा गतिमयी है । भावों के अनुसार ही ऋजु-कुंचित छन्दों की योजना हुई है । झंकार में छायावाद के बाह्य आवरण को ग्रहण करके कवि छायावादी शील को नहीं अपना सका । निश्चय ही 'झंकार' श्रेष्ठ गीतिकाव्य नहीं है, पर अपने युग का प्रतिनिधि काव्य अवश्य है । गुप्तजी का गीतिकला का प्राथमिक सौंदर्य भी इसमें सुस्पष्ट है ।

(22) साकेत :-

सन् - 1914 से 1931 तक साकेत की रचना हुई है, और सन् - 1932 में यह काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ । आधुनिक युग के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में परिगणित साकेत मैथिलीशरण गुप्त की अमरकृति है । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने 'कवियों की उर्मिला - विषयक उदासीनता' पर एक लेख लिखा । द्विवेदीजी का यह वाक्य - ''खेद की बात है कि उर्मिला का उज जवल चरित्र-चित्र कवियों द्वारा आज तक उसी तरह ढकता आया ।''(62) फलतः मैथिलीशरण गुप्तजी ने इस क्षतिपूर्ति का निश्चय किया - साकेत में वह संकल्प ही प्रतिफलित हुआ है ।

'साकेत' का काव्य-वैभव अत्यन्त समृद्ध एवं श्लाध्य है । इसमें शस्त्रविहित नवरसों में से न्यूनाधिक मात्रा में सभी उपलब्ध है । शिल्प की द्रष्टि से यह अब तक की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है । गुप्तजी के मानवता का आदर्श राम के रुप में मूर्त हो उठा है ।

'साकेत' में वर्णनात्मक, प्रगीतात्मक और मुक्तक तीनों काव्य-शैलीयाँ सुप्रयुक्त हैं, और यह नायिका-प्रधान काव्य है । इतने विपुल साहित्य के सृजन के पश्चात् कवि की लेखनी मंज और तूलिका सध गई है । अब वह वर्ण का चित्र प्रस्तुत करने में भी समर्थ है । अप्रस्तुत योजना इस काव्य की स्तुत्य है : साद्दश्य, साधर्म्य, वर्ण-साम्य एवं प्रभाव-साम्य के श्रेष्ठ उदाहरणों से तो पुस्तक आद्यंत आपूर्ण है । साकेत की भाषा प्रौढ़ एवं प्राजंल खड़ी बोली है ।

काव्य की शैली राम साहित्य के लिए एकदम नवीन एवं अपरिचित है । अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कवि ने सहज-सरल ढंग से न कहकर अनेक युक्तियों का आश्रय लिया है ।

अन्योक्ति, समासोक्ति आदि के चिर-परिचित प्रयोग के अतिरिक्त प्रतीक योजना, पूर्ण के स्थान पर आधार का, व्यक्ति की जगह भाव तथा भाव की जगह व्यक्ति का, साधक के लिए साधन और कर्ता के स्थान पर कार्य का प्रयोग बड़ी योग्यता से किया गया है । संवादों की दृष्टि से प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला का परिहास पठनीय है ।

'साकेत' में कवि जीवनव्यापी अनुभवों का सार तथा उसका जीवन-दर्शन सहज लभ्य है। उसकी उत्पत्ति राम, सीता, लक्ष्मण आदि मान्य एवं प्रतिष्ठित पात्रों द्वारा हुई है । गुप्तजी का व्यक्तित्व भारतीय और हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है । 'साकेत' में उसकी झलक वर्तमान है । डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना लिखते हैं कि ''साकेत में राम मानवता की साकार मूर्ति बनकर अवतीर्ण हुए हैं । वे एक उच्चकोटि के मानव है ।''(63) साकेत में प्रथम बार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर ईश्वर के समकक्ष लाकर रखा गया है । जो मध्ययुग में किसी प्रकार संभव न था । 'साकेत' इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवतादर्शवादी या आदर्श मानवतावादी रचना कही जा सकती है ।(64)

'साकेत' में दोषों का भी एकान्ताभाव नहीं है । साकेतोत्तर रचनाओं में कवि की भाषा तथा शिल्प निरन्तर उन्नत एवं प्रौढ़ होते चले गए हैं पर उनमें आत्म-व्यक्ति एवं आत्म-द्रव नहीं है जो साकेत में सहज ही उपलब्ध है । वस्तुतः उसी में कवि को आत्म साक्षात्कार हुआ है अतः उसके प्रति सर्वाधिक मोह उचित ही है ।

(23) यशोधरा :-

'यशोधरा' का प्रकाशन साकेत के लगभग एक वर्ष पश्चात सन् 1933 में हुआ । यशोधरा का उद्देश्य है पति - परित्यकता यशोधरा के हार्दिक दुख की व्यंजना तथा वैष्णव सिद्धांतो की स्थापना । कथा का पूर्वार्द्ध चिरविश्रुत एवं इतिहास प्रसिद्ध है पर उत्तरार्द्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है । कथानक अत्यंत सरस, सजीव एवं रोचक है ।

'यशोधरा' की भावधारा में 'साकेत' की स्वाभाविक परिणति हुई है। यशोधरा का विरह-वर्णन ग्रार्ह्यस्थिक है । करुण-विप्रलंभ के उद्गार के साथ यशोधरा मातृ-हृदय का चित्रण भी हुआ है । यशोधरा का मातृत्व सचेत है । विरहानुभूति-गर्भित होने के कारण वह अत्याधिक कोमल है ,और उज्जवल भी । वह पुत्रवती वियोगिनी वात्सल्य और करुण-विप्रलंभ से, 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी' से अपना व्यक्तित्व गढ़ती है । उसके चरित्र की गरिमा नारी की शक्ति और उसकी करुण स्थिति की सम्मिलित अभिव्यक्ति द्वारा उद्घाटित हुई है । रमणी का पूर्णत्व मातृत्व में है, अतएव उर्मिला के इस पक्ष की पूर्ति 'यशोधरा' में हुई । **'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको'**, उक्ति में पुरुष की एकांतिक

साधना को सामाजिक जीवन की दृष्टि से अपूर्ण माना गया तथा नारी के महत्व की व्यंजना हुई । सिद्धार्थ बुद्धत्व प्राप्त करते है और लोक-कल्याण के लिए अपने ज्ञान का उपयोग । यशोधरा के चरित्र के द्वारा नारी की उच चता व्यंजित करना गुप्तजी का काव्योद्देश्य है।

गुप्तजी बुद्ध धर्म और बौद्ध संस्कृति को हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति का अभिन्न तत्व मानते हैं । आचार्य जाबड़ेकर का निर्देश है कि भारतीय संस्कृति भौतिक और आध्यात्मिक अद्वयता स्थापित करके मानव-संस्कृति के रुप में पल्लवित होगी । (65)

'यशोधरा' चरित्र-प्रधान रचना है, जिसमें सांस्कृतिक अभिप्रेत ही अभिव्यक्त हुआ है । इस रचना में कवि ने 'बुद्ध-चरित' के उस अंश को लिया है, जो महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् घटित हुआ, किन्तु जो कपिलवस्तु से संबंध रखता है । ख्यात वृत में वियागिनी यशोधरा का विवरण प्रमुख नहीं है । अतएव कवि-कल्पना को स्वतन्त्र विचरण करने का अवकाश रहा है । इस रचना का काव्य-रुप खण्डकाव्य का है और विधान चम्पू का । यह नव्य काव्य-प्रयोग भी है । जिसके द्वारा कथा-वस्तु को भावमयी, चरित्र-निष्ठ और वस्तु-व्यंजक बनाया गया है । कवि ने घटना-प्रसंगों को वर्ण्य-वस्तु न बनाकर उन्हें केवल मानसिक अधिकरण में रख दिया है ।

'यशोधरा' में मुख्यतः विप्रलम्भ श्रृंगार, वात्सल्य और शांत रसों की नियोजना हुई है । यहाँ पर करुण रस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह वियोगानुभूति का ही पोषक तत्व है। मध्यांश में वियोग-वर्णन विन्यस्त हुआ है । इस मध्यांश में वियोग की अभिलाषा, चिंता, स्मृति, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मूर्च्छा आदि अवस्थाएँ विन्यस्त हुई हैं । विरह-वर्णन न ऊहात्मक है, न शारीरिक । विरहावस्था का मानसिक पक्ष ही निरुपित किया है । यशोधरा का प्रेम अन्त में बुद्ध-जन्य हो गया है अर्थात् वह आत्म-बोध में परिणत हुआ है । वह स्वयं संघ की शरण में आई और राहुल को भी समर्पित कर गई । यशोधरा का प्रेम शोक और वात्सल्य में पल्लवित हुआ तथा त्याग और वियोग में फलित । मानवीकरण से तो 'यशोधरा' आद्यांत अपूर्ण ही है ।

(24) द्वापर :-

यशोधरा के तीन-चार वर्ष पश्चात् कवि की 'द्वापर' रचना का प्रकाशन सन् 1936 में हुआ । द्वापर का आधार श्रीमद्भागवत है पर यत्र-तत्र परिवर्तन एवं नवोद्भावनाएँ हैं तथा अपने विषय में कुछ कथन करते हैं । खण्ड को उन्हीं के नाम से अभिहित किया गया है । इस काव्य में एक ही काल के विविध पात्रों की मानसिक प्रक्रिया व्यंजित करके कवि ने कृष्ण-चरित की सोलह कलाओं अर्थात पात्रों के द्वारा उनके गोपाल-रुप की युग सापेक्ष अभिव्यक्ति की है । द्वापर आवेश-मयी रचना है । कवि ने

कहा है कि "जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प-पूर्ण रही ।"[66] गुप्तजी के व्यक्तिगत जीवन में इस समय प्रायः दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई । (1) 'द्वापर' की रचना कवि ने अपने दो पुत्रों के, सुमंत्र और सुदर्शन के दिवंगत हो जाने के अनंतर की । निश्चय ही कवि का मन अत्यन्त क्षुब्ध था और संतति-वियोग की उसे अतिशय पीड़ा थी । (2) 'द्वापर' की रचना काल में ही कवि ने पैतृक ऋण से मुक्ति-लाभ भी किया । ये दोनों परिस्थितियाँ 'द्वापर' के आवेश पूर्ण कर्तृत्व के मूल में सक्रिय मानी जा सकती है । कृष्ण की राजनीतिक अनाचार के विरुद्ध क्रांति, बलराम की युग-परिवर्तन विषयक क्रांति, कृषि-सभ्यता के अंतर्गत पशुबलि के स्थान पर अन्नकूट के प्रवर्तन के द्वारा जीवनविधि की क्रांति, गोपी-प्रसंग में स्वच्छंद प्रेम की लोक-मर्यादा के विरुद्ध सामाजिक क्रांति, आदि 'द्वापर' की वस्तु-योजना के अवयव हैं ।

रचना - कौशल एवं नूतन प्रतिपादन शैली ने चिरपेषित कथानक को पर्याप्त सरस एवं रोचक बना दिया है । यह काव्य गुप्तजी की प्रिय वर्णनात्मक शैली में न होकर आत्मनिवेदन प्रणाली पर लिखा गया है । प्रत्येक खण्ड में कोई पात्र अपना जीवन-दर्शन, अपने द्रष्टिकोण से जीवन की समस्याओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है ।

गुप्तजीने पहली बार 'विधृता' वर्णन सविस्तार आलेखन किया है । 'विधृता' की नारी ने नरकृत अत्याचारों का विरोध किया है , उन पर क्षोभ प्रकट किया है । दूसरे आदर्शवादी कवि ने कृब्जा को राधा की सौत न बनाकर अनन्य सेविका-पद ही प्रदान किया है । तीसरे गोपियों को राधा की परमप्रिय सखियों के रुप में उपस्थित किया गया है - वे सब राधा को लेकर जीवित हैं अतएव उसके दुख से अत्यंत दुखी है । इस प्रकार गुप्तजीने परंपरागत परकीयत्व का निवारण करके भारतीय संस्कृति की रक्षा की है ।

'द्वापर' में करुणा का अच्छा परिपाक हुआ है । शिल्प की दृष्टि से यह काव्य काफी समृद्ध है और इसकी भाषा कांति एवं द्रुतिमयी खड़ी बोली है । इस काव्य में कवि की नारी भावना तथा जीवन और जगत् के प्रति उसका द्रष्टिकोण अपेक्षाकृत स्पष्टतर रुप में अभिव्यक्त हुई है । 'द्वापर' कवि के कृतित्व के उत्तरकाल का सर्वप्रथम काव्य है । 'द्वापर' की रचना का आरंभ 'सुदामा' के आत्म-संलाप से किया गया और गोपाल, द्वारकाधीश और योगिराज इन तीन खण्डो में लिखने की योजना बनाई ।

'द्वापर' के नायक कृष्ण है । वे ही केन्द्रवर्ती चरित्र हैं । उनके क्रांतिकारी, प्रेमी और मानवीय स्वरुप का चित्रण ही प्रधान है । पर सोलह चरित्रों को उपस्थित कर कवि ने कृष्ण को षोड़ष-कला संपन्न ही नहीं बनाया, वरन् सभी पात्रों का भावोच्छ्वास भी व्यंजित किया । 'द्वापर' की प्रत्येक रचना में एक ही भाव का एकतान रुप चाहे न मिले, पर उसकी प्रमुखता अवश्य मिलेगी । 'द्वापर' के प्रत्येक पात्र मनोवृत्ति-विशेष को लेकर अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन करता है ।

'द्वापर'|में दो भिन्न प्रवृतियाँ सक्रिय हुई हैं । प्रथम प्रवृत्ति आत्मलीन पात्रों का भावोन्मेष प्रकट करती है - गोपी, राधा, कृब्जा । दूसरी प्रवृत्ति सामाजिक और सांस्कृतिक भावों से संबंधित क्रांतिकारी विचारधारा को स्पष्ट करती है - विधृता, बलराम, नारद । 'द्वापर'|की यह प्रमुख विशेषता है कि उसमें यथार्थजीवन का सप्राण आलेखन हुआ । कवि ने व्यक्तियों का अंतरंग उद्‌घाटित करते हुए उनकी स्वानुभूतियों का व्यक्तीकरण किया ।

(25) सिद्धराज :-

'सिद्धराज'|यह पाँच सर्गो का चरित्र-प्रधान ऐतिहासिक खण्ड काव्य है । इसमें गुजरात के राजा जयसिंह के जीवनवृत्त के आधार पर काव्य-रचना की । इसका कथानक अत्यंत रोचक एवं सुरुचिपूर्ण हैं, कथा का विकास क्रमिक एवं सुसंगत है । इसका प्रकाशन सन् 1936 में हुआ । कवि के मतानुसार काव्य का पूर्वाद्ध ऐतिहासिक है ।

जयसिंह भी मानवीय पात्र है और वह धीरोदात्त नायक नहीं है । रानकदे के चरित्र के द्वारा कवि ने नारी के चारित्रिक उत्कर्ष की व्यंजना की है और मदनवर्मा के प्रसंग में राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया है । गुप्तजी जीवन को यथार्थ रुप में चित्रित करते हुए शील-निरुपण के द्वारा आदर्श-व्यंजना करते है ।

सिद्धराज की माता सोमनाथ के दर्शन को जा रही है कि जुझौती की एक क्षात्राणी अपने पुत्र को लेकर उनके सामने आकर कहती है कि सोमनाथ पर राज्य कर लगने से बहुत से मनुष्य लौट जा रहा है - इस राजकर की आलोचना करने पर आपके समक्ष लायी गयी । राजमाताने उसका आदर किया । जयसिंह के मंदिर पर से करमुक्त मुक्त कर देने पर ही वह दर्शन को गयी हूँ। इसी बीच में मालव का राजा नर वर्मा पादन सिद्धराज की राजधानी पर चढ़ आया । जब सिद्धाराज को यह वृत्तौंत विहित हुआ तो वह मालवे पर चढ़ गया । वर्षो लड़ाई हुई । नर वर्मा रोग से मर गया । पर यशोवर्मा ने युद्ध जारी रखा, किन्तु अन्त में हारा ।

सोरठ के राजा नवधन को जयसिंह का अपमान सहना पड़ा । उसने मरते वक्त कहा कि वही मेरी गद्दी ले जो मेरा वैर शोध कर सके । यह प्रतिज्ञा खँगार ने की । पौत्र राजा हुआ । सिन्धुराज के एक पुत्री हुई । उसके अशुभ गृह होने की वजह से राजदंपतिने त्याग दिया। एक कुम्हारने उसे सोरठ ले जाकर पाला । सिद्धराज जयसिंह उससे विवाह करने को प्रस्तुत हुआ । खँगारने वैर शोध का अवसर समझ कर उस लड़की रानकदे से स्वयं विवाह कर लिया । जयसिंह का प्रस्ताव ठुकराने पर उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसने सोरठ पर आक्रमण कर खँगार को और रानकदे के पुत्रों को मार डाला । रानकदे को बलपूर्वक वश करना चाहा, पर न कर सका । रानकदे सती हो गयी ।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
THE MAHARAJA SAYAJIRAO UNIVERSITY OF BARODA
University of Baroda

बहुतदिन बाद सपादलक्ष पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा अर्णोराज को बन्दी बना ले गया । अर्णोराज पर जयसिंह की पुत्री काँचनदे मुग्ध हो गयी । दोनों का विवाह कर दिया गया । उसके पश्चात् महोबे के मदनवर्मा का यश सुनकर उस पर चढ़ गया । वहाँ उसे वही वीर जिसने बाल्यावस्थामें सोमनाथ जाते हुए उसकी माताने आदर दिया और जयसिंहने अपनी तलवार भेंट की थी । उससे मिलकर जयसिंह ने लडने का विचार छोड़ दिया और प्रेमपूर्वक मिला और महोबे के ऐश्वर्य को देखा ।

प्रस्तुत काव्य में रस का अच्छा परिपाक हुआ है । संयोग-वियोग श्रृँगार, करुण तथा रौद्र के उत्कृष्ट उदाहरण अनायास ही उपलब्ध है । हास्य का भी स्पर्श है, और वीर रस का संचार प्रारंभ से अंत तक है ही । काव्य की भाषा सर्वथा भावानुकूल एवं प्रसंगोचित्त है । इसमें मध्यकालीन भारतीय सम्यता एवं संस्कृति का सजीव अंकन तथा इन विषयों पर कवि के अपने विचारों का यथास्थान प्रकटीकरण भी हुआ है अतएव यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है ।

(26) मंगल-घट :-

'मंगल-घट' का प्रकाशन सन् 1937 में हुआ । इसमें कुल मिलाकर 62 कविताएँ संग्रहित हैं, जिनमें से -निवेदन, मातृभूमि, स्वर्ग-सहोदर, मेरादेश, स्वप्नोत्थित, कर्तव्य, भाषा का संदेश, भारतवर्ष, देशपाण्डे, न्यायादर्श, निन्नानवे का फेर, संसार तथा आर्यभार्या - ये तेरह कविताएँ 'पद्य-प्रबंध' एवं 'स्वदेश संगीत' में भी संकलित है । 'प्रणाम' शीर्षक कविता 'झंकार' में भी संग्रहित है । महाराज पृथ्वीराज का पत्र 'पत्रावली' में संमिलित है । द्रौपदी दुकूल, वरदान और उत्तर और वृहन्नला तथा केशों की कथा ये महाभारतीय लघु-आख्यानक रचनाएँ है । रण-निमंत्रण आदि का संग्रह 'कविता-क्लाप' में भी हुआ है । नकली किला 'रंग में भंग' रचना का ही एक अंश है । 'दस्ताने' लोक वार्ता पर आधारित आख्यानक रचना है, 'चंडाल' में वर्ण-व्यवस्था की गुण-कर्म-स्वभाव प्रधान स्थिति प्रकट की गई है तथा 'टाईटेनिक की सिंधु-समाधि' में कर्तव्य निष्ठा का आदर्श रक्खा गया है । 'विकट-भट' का पृथक पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ है ।

'मंगल-घट' के आख्यानक लघु-निबंधो में वर्णनात्मक शैली को प्रभाव-पूर्ण बनाया गया है । इनमें घटना-वैचित्र्य, नाटकीय दृश्य-योजना, भावनामयता, संवादात्मकता तथा स्पष्ट और प्रवाहमयी पदावली का विनियोग करके गुप्तजीने अपनी वर्णनात्मक काव्यकला को विकसित कर लिया है ।

विभिन्न विषयों पर लिखी हुई कविताओं के कारण मंगल-घट में प्रायः सभी रस उपलब्ध हैं । किन्तु रौद्र, विभत्स आदि का स्पर्श एकाध स्थान पर ही मिलेगा । शिल्प की दृष्टि से इसमें वैषन्य है । गुप्तजी वस्तुतः इतिवृत्त के कवि हैं अतएव मंगल-घट की वर्णन-प्रधान कथात्मक रचनाएँ पर्याप्त रोचक,

रसमय एवं कलापूर्ण है । अन्य कविताओं में स्थूल उपदेश भी है या नीरस तुकबन्दी अथवा शुष्क नीति - विवेचन है । वैसे संपूर्ण ग्रंथ में प्रभाव-सामान्य, चित्रण कला, मानवीकरण तथा लाक्षणिक विशेषणों के अच्छे उदाहरण भी हैं ।

कविताओं के रचनाकाल में दीर्घ अन्तराल की वज़ह से मंगल-घट की सब रचनाओं की भाषा भी एक जैसी नहीं है । उत्तरकालीन में भाषा कांतिमयी, ओजगुणयुक्त एवं परिष्कृत है । खड़ी बोली के प्रयोग के साथ संस्कृत के अव्यवहारिक शब्दों को भी अपना लिया है । समय-समय पर प्रगीत कविताओं का संग्रह होने के कारण इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्व है । कवि की कला सौंदर्य भावना तथा विचारधारा को समझने में मंगल-घट अत्यन्त उपयोगी है ।

(27) आस्वाद :-

'आस्वाद' में वैविध्यपूर्ण कविताएँ संग्रहित है । जिसका प्रकाशन समय सन् 1938 है ।

(28) नहुष :-

'नहुष' की कथा पौराणिक आख्यान पर आधारित है । यह काव्य सर्वप्रथम सन् 1941 में प्रकाशित हुआ था । यह रचना मुंशी अजमेरीजी के निधन के पश्चात् गुप्तजी ने अपने शोक-ग्रस्त मन को सांत्वना देने की द्रष्टि से सन् 1938 में आरंभ की थी । उन्होंने 'इन्द्राणी' काव्य लिखने का संकल्प किया । वाल्मीकि रामायण और महाभारत का पारायण करते समय नहुष के आख्यान ने उन्हें आकर्षित किया । उनका कथन है कि ''वस्तुतः नहुष का नाम वैदिक काल से सुना जाता है और मनु के समय से उसका द्रष्टांत दिया जाता है ।'' [67]

प्रस्तुत काव्य में महाभारत के उद्योग-पर्व की कथा को ही कवि ने स्वतंत्रता-पूर्वक ग्रहण किया है और उनका कथानक मौलिक है । कथा का विकास कवि का अपना स्वयं एवं सर्वथा मौलिक है । दोनों के संदेश में भी अंतर है ।

'नहुष' में कवि ने मूल कथानक के इन्द्रत्व-प्राप्ति से लेकर स्वर्ग से पतित होने तक के आख्यान को निरुपित किया है, पर उसकी वस्तु-कल्पना ने इसे नितांत नवीन रुप में उपस्थित किया है । इसका कारण कवि के शब्दों में इस प्रकार है : ''व्यासदेव के द्वारा वर्णित इस आख्यान में स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार-बार उसे नीचे ले जाती है । मनुष्य को उन पर विजय पानी ही होगी । इसके लिए उसे साहस पूर्वक फिर-फिर उठ खड़ा होना पड़ेगा । तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर लें ।''[68]

अपनी सद्प्रवृतियों का विकास करके मनुष्य मानव से देवता बन जाता है । पर असत् प्रवृतियों के प्रबल हो जाने पर उसक़ा पतन भी होता है । मानव-जीवन के उत्थान-पतन में सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष वर्तमान रहता है, पर मानवतादर्श तो परम पुरुषार्थ में है , कभी हार न मानने में है और जीवनास्था न खोनें में है । जीवन गतिमान् वस्तु है और मानव सतत सक्रिय प्राणी है। उसका लक्ष्य है पुरुषार्थ करते हुए निरंतर विकसित होना । सुख-भोग उसका प्राप्य नहीं है । परम-पद से निम्न कोई वस्तु उसका अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता और असत् प्रवृत्तियों को पराजित करने से बड़ी उसकी कोई सफलता नहीं हो सकती ।

'नहुष' खण्डकाव्य में इन्द्र-पद को प्राप्त करने के पश्चात् मानवीय दुर्बलताओं के कारण 'नहुष' के स्वर्ग -भ्रष्ट होने भर की कथा को कविने सात कथांशो में निरुपित किया । गुप्तजी को नहुष के शापित होने पर भी उसकी प्रगति का, उन्नति का पूर्ण निश्चय है । इसके अतिरिक्त कवि ने आख्यान को सुसंगत, विश्वसनीय तथा बुद्धिसम्मत बनाने के लिए यत्र-तत्र नूतन उद्‌भवनाएँ की जिनसे मूल कथानक और भी सजसँवर गयां है ।

'नहुष' में करुणा का अच्छा परिपाक हुआ है । इसके अतिरिक्त श्रृंगार एवं रौद्र का स्पर्श भी सहज ही उपलब्ध है । भाषा भी परिमार्जित खड़ी बोली है । गुप्तजी मनुष्य की उन्नति में पूर्ण विश्वास रखते हैं । वह समग्र देश की प्रगति चाहते हैं।

(29) कुणाल – गीत :-

कवि को 'यशोधरा' की रचना करने के पश्चात् सन् '34 के आसपास किसी सूरदास को गाते हुए देखकर 'कुणाल गीत' लिखने की सूझी थी ।[69] सर्वप्रथम सन् '41 में झांसी-जेल में कवि ने दो-चार गीत रचे । उसी वर्ष आगरा जेल में चालीस-पचास प्रगीत रचे और निष्कृति पाने के पश्चात् चिरगाँव आकर रचना समाप्त की। 'कुणाल-गीत' का प्रकाशन सन् 1942 में हुआ था । इसमें 65 गीतों का संकलन है जिनमें कुणाल की आत्माभिव्यक्ति है।

भारत-वर्ष की एक लोक-प्रचलित कथा है । अशोक का धर्म-प्रचार बौद्ध इतिहास की महत्वपूर्ण वस्तु है ।[70] उसीके पुत्र कुणाल को विमाता की असफल कामासक्ति-जन्य आक्रोश का शिकार होना पड़ा । वह सीमाप्रांत में भेज दिया गया, उसकी पत्नी कांचनमाला भी उसके साथ थी । अंधा करके निष्कासित करने का आदेश भी कुणालने शिरोधार्य किया और वह कांचनमाला के साथ भिक्षाटन के लिए निकल पड़ा । पाटलीपुत्र जा पहुँचा, वहाँ उसकी गीति-लहरी रात में अशोक को सुनाई पड़ी । पिता-पुत्र का मिलन हुआ । यह मिलन वात्सल्य और करुणा की संगमस्थली बन गया ।

अशोक के पुण्य से कुणाल को द्रष्टि-लाभ हुआ । कुणाल का हृदय भी महान पिता के हृदय के समान ही महान् था । उसके अनुरोध से विमाता का अपराध क्षमा किया गया । इस वस्तु को आधार बनाकर गुप्तजी ने 'कुणाल-गीत' की रचना की है, पर घटनाएँ सभी सूच्य और आनुषंगिक है । इसमें मुख्यतः पथ गीतों की रचना की गई है । "गुप्तजीने कुणाल के आध्यात्मिक विकास-मार्ग में पड़ने वाले उसकी अन्तर्यात्रा के प्रमुख स्थलों की आदर्शात्मकता अभिव्यकित की है । यह मानवतादर्श का दार्शनिक पक्ष उद्घाटित करता है ।"[71]

गुप्तजीने इस कृति की आधार-सामग्री अशोक-कालीन इतिहास से ग्रहण की है । धर्मानन्द कोसांबी के 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा', भगवान बुद्ध आदि तथा कुमारस्वामी की 'हिन्दूदर्शन' और 'बौद्ध-दर्शन' पुस्तक से कवि ने इस विषय के अपने विचारों का परिपोषण किया ।

कुणाल-गीत की भाषा सुष्ठु, प्रांजल एवं कान्तिमयी खड़ी बोली है । गुप्त साहित्य में इतनी कोमल - कान्त पदावली के दर्शन इससे पूर्व नहीं होते । प्रस्तुत काव्य में कुणाल के महान् व्यक्तित्व का विशेष महत्व है । लोक-प्रसिद्ध सच्चरित्र व्यक्ति में लोक मांगल्य एवं आशावाद की प्रतिष्ठा करके कवि ने उसे और भी निखार दिया है ।

"कुणाल के माध्यम से जीवन और जगत् में आस्था तथा उसके आशावादी द्रष्टिकोण की सहजाभिव्यक्ति हुई है ।"[72] उनके ही शब्दों में - **"देख जीवन ही अमर है, जन्म फिर यह पा गया मैं ।"**[73] अर्थात् दुख आता है और चला जाता है पर अमर है जीवन । **"रहे क्षणभंगुर विश्व विशाल, किन्तु एक उस क्षण में कितने भावों के भूचाल ।"**[74] अर्थात यदि जीवन क्षणभंगुर भी है तो उसके अस्तित्व का क्षण ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अतएव मानव के लिए सतत कर्मरत रहना ही श्रेयष्कर है ।

संक्षेप्त में, गुप्तजी के गांधीदर्शन का मानवतावाद बौद्ध-संस्कृति के मूलभूत तत्वों से समृद्ध हुआ है । शान्त रस का ऐसा दार्शनिक निर्वाह गुप्तजी की किसी अन्य काव्य-कृति में अनुपलब्ध है ।

(30) अर्जन और विसर्जन :-

'अर्जन और विसर्जन' शीर्षक दो लघुकाय खण्डकाव्यों का संग्रह है । यह पुस्तक सन् 1942 में प्रकाशित हुई । इन दोनों की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है । कथा का विकास, गठन एवं संबंध-निर्वाह सभी सहज-स्वाभाविक है । दोनों काव्यों का अपना पृथक-पृथक संदेश है ।

'अर्जन' में सीरिया के सातवीं शताब्दी के तथा 'विसर्जन' में उत्तरी अफ्रिका के आठवीं शताब्दी के इतिहास की घटनाओं का आख्यान किया गया है । 'अर्जन' शीर्षक आख्यानक-रचना में सीरिया की राजधानी दमिश्क पर अरबों के आक्रमण का वर्णन हुआ है । 'विसर्जन' रचना में आरबों का उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण निरुपित हुआ है ।

सन् '42 के भारतीय स्वतंत्रता के 'भारत छोड़ो' आंदोलन की पृष्ठभूमि में लिखी गई यह कृति इस उद्देश्य को व्यंजित करती है कि स्वतंत्रता का अर्जन करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग श्लाघ्य है और श्रेयष्कर भी ।

काव्य शिल्प की द्रष्टि से यह पुस्तक काफी निखरी हुई है । कथावस्तु का कलेवर कम होते हुए भी इसमें प्रभाव-अनायास ही उपलब्ध है । इस काव्य की विशेषता है परिमार्जित एवं प्रौढ़ खड़ी बोली । 'अर्जन' अतुकान्त एवं 'विसर्जन' तुकान्त है ।

(31) काबा और कर्बला :-

'अर्जन और विसर्जन' के समान इसमें भी 'काबा' और 'कर्बला' दो खण्ड काव्य संग्रहित है । इसका प्रकाशन सन् 1942 में हुआ था । विशिष्ता को है कि यह मुस्लिम इतिहास से सम्बद्ध है ।

'काबा और कर्बला' भी सामयिक प्रेरणा से लिखा गया काव्य है । कवि का कथन है कि ''अपने देश में आंतरिक सुख-शांति के लिए हमको हिलमिलकर ही रहना होगा । समान-दुख ही हमारी पारस्परिक सहानुभूति का आधार नहीं होना चाहिए । यह तो एक विवशता का विषय है । हमें एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा ; एक दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा । हमारी मैत्री भावना 'प्रेम एवं परोधर्म :' पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है ।''[75] ''कविने सहानुभूति और सम्मान के वश ही इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस किया है ।''[76] कवि ने राष्ट्रीय समस्या से प्रेरित होकर इस्लाम के धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का अनुशीलन किया । उन्होंने सांस्कृतिक काव्य लिखा है ।

''यह सारा संसार है उस प्रभु का परिवार,
सबसे रखना चाहिए प्रेमपूर्ण व्यवहार ।''[77]

इस काव्य को दो खण्डों में रचा गया । प्रथम खण्ड में काबा-विषयक स्फुट आख्यानक रचनाएँ हैं, जिसमें इकत्तीस कविताएँ है । इसमें मुहम्मद साहब के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को पद्य-बद्ध किया गया है । कवि ने मुहम्मद साहब की महानता, सहनशीलता, धीरता और उदारता का निरुपण किया । दूसरा खण्ड 'कर्बला' एक खण्डकाव्य है और उसमें मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुशैन के बलिदान का आख्यान वर्णित है । कवि ने उनका चित्रण अपने द्रष्टिकोण से किया है, जो इस प्रकार है : ''बहुत से शत्रुओं के संहार की अपेक्षा उनकी वीरता बलिदान में ही लेखक की द्रष्टि में, अपनी विशेषता रखती है । इस प्रकार उनकी करुणा भी अधीर रोने में नहीं, गम्भीर होने में ही अपना महत्व प्रकट करती है ।''[78]

इमाम हुशैन ने स्वधर्म-निष्ठा के कारण अपनी, अपने परिजनों की तथा अपने अनुयायियों की आत्माहुति दी है । यजीद, जिसे शैतान का प्रतीक समझा जाता है, प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाने के लिए उन्हें विवश किया है । कवि ने इस करुण-कथा को उदारता, करुणा और श्रद्धा के साथ वर्णन किया है । उन्होंने 'कर्बला' के नरमेघ में आर्यो अर्थात् हिन्दूओं की आत्म-बलि का भी आदर-पूर्वक उल्लेख किया है । गुप्तजी ने 'कर्बला' खण्ड में सत्पक्ष के पराभव का वर्णन किया, पर वह इतना मार्मिक है कि वही उसका उत्कर्ष प्रतीत होता है । संघर्षो में ही व्यक्ति अपनी महानता का अर्जन कर पाता है ।

गुप्तजी ने मानवता की उच्चतम भावना को इस सामयिक प्रेरणा से रचित काव्य में उदाहृत किया है तथा व्यापक मानव-धर्म की प्रतिष्ठा का संदेश दिया है ।

(32) विश्व-वेदना :-

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय इसकी रचना आरंभ हुई और द्वितीय महायुद्ध के समय पूर्ण । इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ था । इसमें युद्ध और उसके दुष्परिणामों की आलोचना करते हुए अपने समस्त युग और उसकी विषमताओं का विवरण उपस्थित किया । कवि को विश्व की चिन्ता है और कामना है कि **'आज के योग्य एक अविभाज्य, विश्व को मिले राम का राज्य'**(79)

यह लघु-काव्य कवि-हृदय के उस हाहाकार को व्यंजित करता है, जो विश्व-योजना का सकरुण स्वर और भौतिक सभ्यता का दुष्परिणाम है । कविने विश्व युद्ध की घृणा करते हुए आर्थिक शोषण, राष्ट्रों की स्वार्थांघता, यांत्रिक समुन्नति के नाम पर किए गए मानव-प्रगति के अवरोध तथा हत्या, रक्तपात आदि अमानवीय कृत्यों की सांस्कृतिक स्तर पर आलोचना की । उसने साधारण जन की मनःस्थिति में आकर विज्ञान की संहारक शक्तियों का नाश चाहते हुए, उसे मानव कल्याण में सहायक बनाने की कामना की है । यह भावनाशील कवि की चिंतन-विशिष्ट रचना है । गुप्तजी शांति-व्यवस्था और सामाजिक विकास के काल्पनिक आदर्शवाद को 'विश्व-वेदना' में अभिव्यक्त करते है । यह कृति 'वैतालिक' की अपेक्षा अधिक गंभीर और चिंतन-प्रधान है । यह दार्शनिक मनःस्थिति में रची गई उद्‌बोध गीति है ।

प्रस्तुत काव्य में बौद्धिकता का प्राधान्य होने पर भी प्रारंभ से अंत तक करुणा का साम्राज्य है । शील्प की द्रष्टि से काफी अच्छी रचना है । भाषा शुद्ध खड़ी बोली है । 'विश्व-वेदना' के प्रणेता का अपना व्यक्तित्व इतना विशद, विशाल एवम् व्यापक है कि संपूर्ण विश्व की वेदना उसकी अपनी वेदना बन जाती है और वह पीड़ा से कराह उठता है ।

(33) अजित :-

'अजित'का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् 1947 में हुआ । रचनारंभ 'कारा' नाम से कवि ने सन् 1941 में अपने कारावास समय में ही किया था । और ये सन् 1947 में ही समाप्त हुई थी । इसका कथानक अत्यंत-अल्प आत्म-कथात्मक शैली के पंद्रह परिच्छेदों में लिखा गया है । इसमें जीवन की विकृति का, उसकी कठोर वास्तविकता का कविने चित्रण किया है । गुप्तजीने 'सिद्धराज' काव्य में इस नवीन शैली को अपनाया था और 'अजित' में उसका पूर्ण परिपाक दिखाई पड़ता है । 'अजित' आदर्शवादी काव्य है, पर उसके शिल्प में सत् - असत् प्रवृत्तियों का द्वन्द्व प्रत्यक्ष हुआ है ।

प्रस्तुत काव्य की भाषा प्रौढ़ पर कान्तिहीन खड़ी बोली है । उसमें स्थानीय तथा असाहित्यिक शब्दों की भरमार है । यहाँ पर गुप्तजीने पहली बार अंग्रेजी के बहु-प्रचलित शब्दों को अपने काव्य में स्थान दिया है जिससे भाषा अधिक व्यावहारिक बन गई है । कई जगह उर्दू शब्द भी प्रयुक्त हुए है । इसमें स्थिरचित्र, गतिचित्र, रेखाचित्र, मुद्राअंकन, प्रभाव-साम्य, विशेषण-विपर्यय तथा अन्यान्य प्रसाधनों का सफल प्रयोग हुआ है ।

(34) प्रदक्षिणा :-

गुप्तजी का कथन है कि '' 'साकेत' प्रकाशित होने के पश्चात् थोड़े ही प्रयास से अपने प्रभु की प्रदक्षिणा का वह अवसर मुझे मिल गया था । परन्तु इसके प्रकटीकरण में बरसों का विलम्ब हुआ ।''[80] इसमें 'साकेत' के एकादश सर्ग के चौहत्तर छन्द, अष्टम सर्ग का एक छंद तथा 'पंचवटी' के तीन छंद अवतरित है । कवि ने अड़तालीस नए छंद रचकर प्रदक्षिणा की रचना की । इसका प्रकाशन सन् 1950 में हुआ ।

इस रचना का आरंभ मंगलाचरण से हुआ है । राजा दशरथ के घर चार पुत्रों का जन्म होता है । राम और लक्ष्मण की सहायता से मुनि विश्वामित्र निर्विघ्न यज्ञ करते है । सीता स्वयंवर में मुनि उन दोनों को लेकर जनकपुर जाते है । जब कोई भी राजा उस शिव धनुष को उठा नहीं पाया तब मुनिने राम को आज्ञा दी । राम के धनुष चढ़ाते ही वह टूट जाता है । तब राजा जनक अपनी चारों पुत्रियों का विवाह राजा दशरथ के चारों पुत्रों से करते है । राजा दशरथ राम को राज्य देना चाहते थे । लेकिन उसी समय कैकेयी दो वरदान माँगती है । एक तो राम के चौदह वर्ष के लिए वनवास और दूसरा भरत को राज्य । राम के साथ सीता और लक्ष्मण भी वन में जाते है । तब शूर्पणखा लक्ष्मण को वरने के लिए आती है । लेकिन लक्ष्मण विवाहित होने के कारण उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते है । लक्ष्मण क्रोध में आकर उसके नाक-कान काट डालते है । अपनी बहन का वैर वसूल करने के लिए रावण एक मायावी मृग को भेजता है । राम, सीता को रिझाने के लिए उसके पीछे दौड़ते है । लक्ष्मण भी राम को सहायता

करने के लिए जाते है । तब रावण ऋषि के वेश में आकर सीता को हर ले जाता है । सीता को मूक्ति दिलाने के लिए राम रावण से युद्ध करते हैं । जिसमें राम की विजय होती है । राम, लक्ष्मण और सीता के साथ वापिस लौटते है । और अयोध्या का राज्य करते है ।

'प्रदक्षिणा' में अत्यन्त संक्षेप से रामकथा वर्णित है । उसका कथानकगत अनवरत प्रवाह से बढ़ता है, उसी के कारण 'प्रदक्षिणा' नाम सार्थक सिद्ध होता है । रामायण में जिन विषयों का वर्णन कई पृष्ठों में हुआ है उन्हें गुप्तजीने एक-दो छंद में ही आबद्ध कर दिया है । सवासौ ताटंक और वीर छंदो में संपूर्ण - राम -कथा का विवरण किया गया है । इसमें राम कथा-नायक हैं और उनके जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । 'प्रदक्षिणा' की पदावली परिष्कृत है जो कवि की प्रौढ़ कला की निदर्शक है । इसकी कांतिमय भाषा एकदम टकशाली है । थोडे में बहुत कहने की शक्ति का अपूर्व विकास मिलता है । इसलिए समासगुण दर्शनीय होता है । संवादों में चमक, लोच एवं तरलता है ।

इस आख्यान-वर्णन का प्रमुख आकर्षण उनकी प्रखर गत्वरता है । राम-चरित की घटना-श्रृँखला को कविने रसात्मक बनाया है । भावपूर्ण स्थलों का गतिशील चित्रण किया है , संभाषणों को संक्षिप्त और सजीव बनाया है तथा वीर-चरित्रों के ओज और शौर्य का प्रदर्शन किया है । 'प्रदक्षिणा' आख्यानक पद्य-निबंध है ।

(35) पृथिवीपुत्र :-

'पृथिवीपुत्र' सर्व प्रथम सन् 1950 में प्रकाशित हुआ इसमें दिवोदास, जयिनी एवं पृथिवीपुत्र इन तीन संवादों का संग्रह हुआ है । '' 'दिवोदास' 'प्रतीक' के पहले अंकमें छपा था । 'जयिनी' उसके भी कई वर्ष पूर्व 'सुधा' में छपी थी । 'पृथिवीपुत्र' इसी वर्ष 'नया समाज' में प्रकाशित हुआ है ।''[81]

दिवोदास :- रिपुंजय देखता है कि देवाश्रय लेकर मानव विवश और विपन्न बना हुआ है । मानव-जन्म लेकर वह अपने कर्तव्य-साधन के द्वारा सार्थक बनाने के लिए कृत-संकल्प है । ब्रह्मा ने रिपुंजय को गृहस्थ बनने के लिए सन्नद्ध किया तथा दिवा (स्वर्ग) भी जिसका दास है वह दिवोदास को अकाल-पीड़ित काशी-राज्य का राज-पद प्रदान किया । नागवंश की राज-कन्या अनंगमोहिनी दिवोदास का वरण करती है । अंत में, दिवोदास मंत्री और प्रजाजनों को अकाल से मुक्ति दिलाने के लिए उन्हें उद्योगशील बनाता है । वह गंगा के जल से अन्न उत्पन्न करने को कहता है । अकाल के देवों का कोप अथवा पापों का परिणाम न मानकर उसे वह मानव की निरुद्यमशीलता का फल समझता है ।

जयिनी :- इसकी कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त और सरल है । मार्क्स लोकहित का साधन करने के लिए अपने पारिवारिक जीवन के सुख का त्याग करना चाहता है । उसकी पत्नी राज-पुत्री है और विलास के वातावरण में पली हुई है इसलिए वह ये समझता है कि विपन्न और विद्रोही जीवन में वह कष्टों को न झेल सकेंगी । पर जयिनी पति-प्राणा है और वह मार्क्स के साथ ही जीवन यापन करती है । उसने सुख-वैभव का त्याग करके विपन्न जीवन को सहर्ष स्वीकार किया है । वह त्यागशीला और प्रेममयी रमणी के रुप में सामने आती है । भारतीय नारीत्व की सहनशीलता, उत्सर्ग-भावना और प्रेम की अनन्यता उसके चरित्र में प्रत्यक्ष हुई है । और भौतिकवादी मार्क्स को कविने मानवतावादी चारित्र्य प्रदान किया है ।

पृथिवीपुत्र :- पृथिवीपुत्र आधुनिक यांत्रिक सम्यता का प्रतीक है। वह नए नए अस्त्र-शस्त्रों की खोज करता है । उसकी बर्बरता ही युद्ध-भावना बनी हुई है । पर साथ में वह अपने को सुसंस्कृत मानवी भी मानता है । मातृ-भूमि के माध्यम से वह विश्व-मानव बने, लोक-हित का व्रत ग्रहण करे, प्रेमपूर्ण व्यवहार करे तथा मानवों के उत्कर्ष में अपनी मेघा का सुप्रयोग करे ।

इस संवाद में कविने अपनी शांतिवादी मान्यताओं को अभिव्यक्त किया है और पृथिवीपुत्र की विजीगिषा को मानवता का अधःपतन माना है ।

कवि ने दिवोदास, जयिनी और पृथिवी-पुत्र को केवल 'संवाद' कहा है । ये तीनो रचनाएँ कथात्मक भी है। प्रत्येक रचना आप में पूर्ण है और विशिष्ट उद्देश्य-समन्वित भी । 'दिवोदास' में मनुष्यत्व का उत्कर्ष और परसुखोपभोगी देवताओं का अपकर्ष दिखाया गया है । 'जयिनी' में मार्क्स के दाम्पत्य-भाव का आदर्श रुप व्यंजित है , जो भारतीय दाम्पत्य जीवन का भी लक्ष्य है । 'पृथिवीपुत्र' में हिंसा-वृत्ति की विगर्हणा है और मानवतावादी दर्शन से उद्रिक्त शांति-प्रिय प्रवृत्तियों की प्रवर्द्धना है।

(36) हिडिम्बा :-

यह खण्डकाव्य है जिसका कथानक महाभारत के आदिपर्व के पैंतालीसवें और छियालीसवें अध्याय से गृहीत सामग्री के आधार पर लिया गया है । सन् 1950 इसका प्रकाशन समय है । 'जयभारत' में 'हिडिम्बा' काव्य को संक्षिप्त करके रखा गया है। कविने राक्षस-कुल में मानवता की भावना का उत्कर्ष दिखाया है ।

लाक्षा-गृह से माता कुंती के साथ पाँच पाण्डव बच निकले। वन-मार्ग में भीम सबकी तृषा शांत करता है । हिडिम्बा नववधू का वेश-धारण कर रात्रि में भीम के पास आकर प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति करती है । इसी बीच हिडिम्ब आकर भीम को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारता है । मल्ल-युद्ध में भीम उसका वध कर डालता है । मृत्यु के अंतिम क्षणों में वह बहन हिडिम्बा को योग्य वर चुन लेने के

कारण आशीर्वाद देता है । अज्ञातवास का भेद खुल जाने पर युधिष्ठिर चिंतित हो उठते हैं पर हिडिम्बा विश्वास-पात्री बन जाती है । पाण्डवों को उपयुक्त स्थान पर वास देकर वह भाई के सब-संस्कार करने हेतु प्रभात होने के पूर्व ही तीन दिन तक शोक मनाने के लिए और उसकी शौचपालन करने के लिए चली जाती है । लौट करके वह माता कुंती से वार्तालाप करती है और अपनी बुद्धि, योग्यता, शील और सुसंस्कार का परिचय देती है । कवि ने कुन्ती और हिडिम्बा के संवाद में आर्य, अनार्य, नर-राक्षस, प्रेम-त्याग तथा नारीत्व, प्रभूति विषयों पर हिडिम्बा के जो मंतव्य प्रकट किए है वो कवि की ही उक्तियाँ है । वह केवल उनसे पुत्र मात्र चाहती है और वह भी व्योम-विहार के द्वारा । सहधर्मिणी न बनकर माता बनना चाहती है । पुत्र के द्वारा मानव और राक्षस के जातीय संमिलन की उसकी भावना विकसित होगी । वही समय आने पर पाण्डवों का कार्य भी कर सकेगा । युधिष्ठिर की स्वीकृति से कुंती अंत में भीम का हाथ हिडिम्बा को ग्रहण करा देती है ।

स्वाभाविकता एवं आदर्श की रक्षा के लिए गुप्तजीने कथा का मूलरुप तो वही रखा है पर यत्र-तत्र परिवर्तन और परिवर्द्धन किया है । परिणाम स्वरुप परम्परागत कथानक से अधिक गुप्तजी की 'हिडिम्बा' का कथानक रोचक, सुसंगत एवं सुरुचिपूर्ण तथा विश्वसनीय बन गया है । ऊँच नीच की भावना को छोड़कर केवल प्राणीमात्र से प्रेम करने का संदेश सर्वथा समर्थ है ।

काव्य-शिल्प की दृष्टि से इसमें पूर्वकृतियों के उच्च स्तर की रक्षा हुई है । प्रभाव-साम्य, धर्म-साम्य, ध्वनि-चित्रण, रेखा-चित्रण, मुद्रांकन का कुशल प्रयोग हुआ है । भाषा भी कान्तिमय ओजमय है । कहीं -कहीं संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

(37) अंजलि और अर्ध्य :-

'हिडिम्बा' के कुछ दिन पश्चात् सन् 1950 में ही इस काव्य का प्रकाशन हुआ है । इसमें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु से शोकग्रस्त विह्वल कवि ने हार्दिक उद्‌गारों का प्रस्फुरन है । महात्मा गाँधी के निधन पर कविने यह उक्ति लिखी थी :

''हाय राम, कैसे हम झेलें अपनी लज्जा, उसका शोक ?

गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्र-पिता परलोक ।''[82]

प्रस्तुत रचना श्रद्धांजलि की नैतिक कर्म के रुप की रचना हैं । स्वयं कवि का कथन है - ''इतना भी करना संभव न होता, यदि वर्तमान व्याधियाँ इसे न कर पा सकते की ग्लानिमयी व्याधि न उत्पन्न कर देंती ।''[83]

अत्यंत संक्षेप में बापू के जीवन की मुख्य घटनाओं का निर्देश करते हुए गुप्तजी उनके अपार गुणों, असंख्य उपकारों तथा भारतवासियों की कृतघ्नता का चित्र उपस्थित किया है । बापू का निधन समग्र राष्ट्र के लिए असह्य वेदना का कारण था । अंत में कवि ने राष्ट्रपिता के चरणों में कविजनोचित श्रद्धांजलि अर्पित की है।

गाँधीजी को आदर्श मानव, लोकनायक, सत्याग्रही अथवा क्रांतिकारी के रुप में स्मरण नहीं किया, बल्कि अपने जीवन-दर्शन के मूर्तिमंत स्वरुप को अपने आराध्य की समदक्षता की । 'अंजलि' में कवि की शोक की अभिव्यंजना है, और 'अर्घ्य' में भावोद्वेलनमयी वह कामना, जो इस अभाव को स्वीकार नहीं कर पाती ।

काव्य तत्वों की दृष्टि से इस रचना की भावाभिव्यक्ति सीधी एवं सरल है जिसमें हृदय को सीधे स्पर्श की अपूर्व क्षमता है तथापि शोक स्थायी की व्यंजना है - साधनता और गहनता दर्शनीय है । भाषा इस काव्य की प्रसंगगर्भित तथा परिमार्जित खड़ी बोली है । काव्य का संदेश चिरन्तन और महान् है ।

(38) जयभारत :-

'जय भारत' महाभारत की बृहत कथा पर लिखा गया संपूर्ण काव्य-ग्रंथ है । जिसे गुप्तजीने सिर्फ 442 पृष्ठों में समाहित कर दिया है । यह प्रबन्धकाव्य सन् 1952 में प्रकाशित हुआ । यह 47 खण्डों (प्रकरण) में विभक्त है । 'जयभारत' एक संग्रथित संकलन है । भिन्न-विभिन्न समयों पर लिखी जाने पर यह खण्ड रुप में निर्मित है । प्रत्येक खण्ड अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र है । यद्यपि कविने उनमें कहीं - कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन करके उन्हें ग्रथित करने का प्रयत्न अवश्य किया है ।

'जय भारत' का आरंभ नहूष का स्वर्ग से पतन दिखाकर किया गया है, उसका विकास पुरुषार्थ के चित्रण और चरित्र के उन्नयन के द्वारा किया गया है , और समाप्ति युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण द्वारा हुई है । युधिष्ठिर में मानवीय गुणों का औदात्य अपनी चरम सीमा पर है । धर्मनिष्ठता, साधुता, करुणाशीलता एवं समतामय दृष्टि निश्चित रुप से प्रभाव डालती है । डा. उमाकान्त ने लिखा है - ''चरित्र-चित्रण में गुप्तजीने युग धर्म का सफल संस्थापन किया है । प्राचीन कथानक में भी कवि अपने युग-विवेक की उपेक्षा नहीं कर सकता । अतः एव 'जयभारत' के प्रमुख पात्र युधिष्ठिर में बीसवीं शताब्दी के युग धर्म-मानवतावाद की प्रतिष्ठा हुई है ।''[84]

'जयभारत' में आदिपर्व, वन-पर्व, विराट-पर्व और उद्योग-पर्व की महाभारतीय मूल-कथा को अधिक विस्तार दिया है और भीष्म-पर्व तथा उसके परवर्ती पर्वो को अत्यंत संक्षिप्त किया है ।

आदि पर्व की ही प्रसंग-सृष्टि को ग्रंथ का तृतीयांश समर्पित किया है । शांति पर्व से लेकर मौसल-पर्व तक के पाँच पर्वो की कथा का 'अंत' काव्यांश के थोडे से पद्यो में वर्णनमात्र किया है। 'जय भारत' की प्रबन्ध-सृष्टि सामासिक पद्धति पर ही हुई है । कवि ने पूर्ववर्ती रचनाओं का संपादन, पुनर्लेखन तथा संकलन किया तथा कतिपय प्रसंगो पर नवीन कार्य रचनाएँ लिखी है । इसलिए 'जय भारत' मुख्यतः नवीन रचना है । पुरानी कृतियों को कविने नई मनोदृष्टि से पुनर्लेखन किया है । महाभारत का यह पुनराख्यान डा. नगेन्द्रजीके मतानुसार युग-धर्म की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है, क्योंकि ''आज का युग-धर्म है मानवतावाद और गुप्तजीने महाभारत के पात्रों का पुनःनिर्माण इसी के आधार पर किया है ।''(85)

इस काव्य में सभी रसों का उदाहरण बिना प्रयास ही उपलब्ध है । कई स्थानों पर हृदय को उद्वेलित करनेवाला भावपूर्ण वर्णन भी हुआ है । इस काव्य का अंगीरस वीर है । काव्य-शिल्प की दृष्टि से वैषम्य है । और काव्य की भाषा में भी विषमता है, यद्यपि शुद्ध खड़ीबोली ही है । आरंभिक एवम् उत्तरकालीन खंडो की भाषा अलग है । क्रमशः अभिधाप्रधान और व्यंजनापूर्ण भाषा का उपयोग हुआ है । संवादो ने भाषा को सजीवता प्रदान की है ।

(39) युद्ध :-

यह एक आख्यानक काव्य है जो सन् 1950 में प्रकाशित हुई । महाभारत के युद्ध विषयक भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्वो का आख्यान हुआ है । युद्ध के आरंभ से दूर्योधन के गदा-युद्ध में परास्त होने तक का कथानक 'युद्ध' का वर्ण्य विषय है ।

भीष्म के अपूर्व युद्ध से क्षुब्ध हो कर कृष्णने चक्र धारण किया । भीष्म उन्हें प्रहार करने कहते है पर अर्जुन और युधिष्ठिर कृष्ण को रोकते है और कहा कि कृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा का ही निर्वाह करना चाहिए । अर्जुनने शिखंडी के पृष्ठपोषक के रुप में युद्ध किया । शिखंडी के नारी-रुप में पैदा होने के कारण भीष्मने उस पर प्रहार नहीं किया । भीष्मने दुर्योधन को संधि कर लेने को कहा, पर वह हठ पर दृढ़ रहे । वे कर्ण को दानी होकर भी अक्षमा-शील समझते है । अर्जुन ने जयद्रथ का वध करने के लिए प्रस्थान किया तो युधिष्ठिर चिंतित हो उठे । उन्होंने भीम आदि को अर्जुन की रक्षा हेतु भेजा । अभिमन्यु-वध के कारण पाण्डव-परिवार व्याकुल हो उठा जिसे कृष्णने सांत्वना दी है । कर्ण निष्कामकर्मा हो करके युद्ध में प्रवृत्त हुआ । घटोत्कच ने भीषण युद्ध किया और कर्ण को इन्द्र के द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करके उसका संहार करना पड़ा । भीम को परास्त करके भी उनका वध नहीं किया । भीमने दुःशासन के वक्ष को चीर डाला और उसके शोणित से द्रौपदी के केश बाँधने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी की । कर्ण-अर्जुन का युद्ध हुआ उसमें कर्ण का अर्जुनने वध किया। युधिष्ठिरने शल्य का वध कर डाला । शकुनि

आदि का भी पाण्डवों ने संहार किया । कृपाचार्यने दुर्योधन को पाण्डवों से संधि करने को कहा पर वह अस्वीकृत कर दिया । अश्वत्थामा नया सेनापति है, जो रात में ही शत्रु-कुल का संहार करने के लिए उद्यत हुआ है । युधिष्ठिर कौरवों को युयुत्सु के साथ हस्तिनापुर भेज देते है । भीम जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा दोहराते हुए दुर्योधन को सरोवर के पास ललकारते है । जिसमें दुर्योधन परास्त होते है । गदा-युद्ध में नियमों का पालन न होने से बलराम क्रोधित होते है, पर भीम अपने पक्ष का ही समर्थन करते है । भीम ने अपनी प्रतिज्ञाएँ पूरी की है । युधिष्ठिर विजयी हुए हैं पर वह इस विजय से गर्वित नहीं है, वरन् वे दुर्योधन के आहत् होने के कारण संतप्त है ।

युद्ध के उपसंहार में बलराम ने युद्ध का परिणाम सर्वनाश के रुप में देखा, और कृष्णने इसे धर्म कार्य समझा । युधिष्ठिर दुर्योधन की मृत्यु पर शोक-संतप्त होते है वे साधु स्वभाव के कारण सबका कल्याण चाहते है, वे दूसरों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते है ।

संक्षेप में कविने धर्म युद्ध की नियम-विरुद्धता को मानवीय हीनता माना है । और युधिष्ठिर के चरित्र को आदर्श धर्माचरण और महामानत्व के रुप में प्रस्तुत किया है ।

(40) राजा-प्रजा :-

एक सौ तिहत्तर पद्यों में रचित राजा-प्रजा का प्रकाशन समय सन् 1956 है । यह पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है । कवि का उद्देश्य दो पृथक काव्य की रचना करना नहीं है । स्वयं कवि का कथन हे कि ''वह दोनों की संमिलित एक थाती है ।'' 'राजा' नामक शीर्षक में प्रजा को संबोधित करते हुए राजा का अभिकथन है । 'प्रजा' नामक रचना शीर्षक में प्रजा बोल रही है । 'राजा' नामक रचनामें राजा के द्वारा जो व्यंग्य है उसका 'प्रजा' नामक में उस कथन का और मुख्यतः लोकतंत्र पर किए गए उनके आरोपों का खंडन किया है ।

राजा अधिकारों को खोकर सात्विक व्यक्ति हो गया है, वह प्रजावर्ग में संमिलित हो गया है इसलिए वह प्रजा को यही संदेश देते हैं कि तुम संयम में रहोगे तभी बड़े से बड़े लोक-कल्याण को अंजाम दे पाओगे । मनुष्यत्व से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है । पुरुषार्थ से पृथ्वी पर स्वर्ग उतार सकते हैं। कर्म ही जीवन का महामंत्र है । कर्मशीलता ही प्रजातंत्र का जयघोष है ।

कविने इसमें लोक-हित में ही व्यक्ति का हित देखा है और गाँधीजी की सत्य और अहिंसा की व्याख्या करते हुए लोक-तंत्र को यह मंत्र दिया है -

''रहे रक्त वा अश्रुपात के हम अभ्यासी,
पर अब अपनी भूमि पसीने की ही प्यासी ।''(86)

संक्षेप में इस काव्य में मानवतावादी जीवन-दर्शन और विश्व-मैत्री के राष्ट्रीय आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है । राष्ट्र-निर्माण की आकांक्षा को प्रमुखता दी गई हैं । इस में देश-प्रेम की भावना, चरित्रोत्कर्ष की प्रवृत्ति और मानवतावाद के दर्शन की व्याप्ति दिखाई पड़ती है ।

यह एक सामयिक काव्य-कृति है । कवि ने स्वयं कोई उपदेश न देकर राजा और प्रजा ने ही लोकतंत्र के आदर्श तथा व्यवहार का और राष्ट्रीय विकास के लक्ष्य का निरुपण किया है । इस निबन्ध-काव्य में गुप्तजीने अपने को अप्रत्यक्ष रखकर ही अपना मंतव्य प्रकट किया है । प्रस्तुत काव्य में रस और शिल्प की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय बात नहीं वस्तुतः यह चिन्तन-प्रधान काव्य है । यह रचना गुप्तजी की नवीन रचना है ।

(41) विष्णुप्रिया :-

सन्-1957 में प्रकाशित 'विष्णुप्रिया' नामक खण्डकाव्य गुप्तजी की प्रसिद्ध रचना है । चैतन्य महाप्रभु और उनकी गृहिणी विष्णुप्रिया का चरित कविता बद्ध हुआ है । 'विष्णुप्रिया' उर्मिला और यशोधरा की चरित्र-कल्पना का विकास है । विष्णुप्रिया सामान्य श्रेणी की गृहिणी है, उसे जीवन की वास्तविक कठिनाईयों के साथ सास की सेवा के साथ, अपनी आजीविका के उपार्जन भी करने पड़े है । वह निःसंतान है ।

मायापुर नामक ग्राम में जगन्नाथ, शची और उनके दो पुत्र गौर हरि का स्थान है । हरि बचपन में ही सन्यासी हो गए और पिता जगन्नाथ स्वर्गवासी हो गए है इसलिए गौर का लालन-पालन माता शची के द्वारा ही हुआ है । विष्णुप्रिया एक विद्वान की कन्या है जो शची को गंगा-स्नान करते समय प्रणाम किया करती है । सखी उसको मज़ाक में कहती है कि गौर उसीके योग्य वर गौर है । तब से उसके मन में पूर्व-राग प्रवर्तित होता है । विष्णुप्रिया और गौर का विवाह संस्कार संपन्न होता है । गौर वधू के आदर्श को 'त्याग पर तेरी नीव टेकी' मानता है । थोड़े समय पश्चात पिता का गया-श्राद्ध करने गौर जाते है । विष्णुप्रिया की पुत्रवती होने की कामना है पर गौर जब वापस लौटे तो भक्ति-भाव एवं हरिकिर्तन से युक्त थे । उद्रैत, श्रीवास, नित्यानंद आदि उनके अनुयायी भी हो गए थे । यहाँ तक 'गौर नर-ईश्वर बना यहाँ' कहे जाने लगे । विष्णुप्रिया का प्रेम यह मानकर उनकी रक्षा-कामना व्यक्त करती है कि वह 'सुध भूले, भटके नहीं ' है । गौर के गृहत्याग करने के निश्चय से विष्णुप्रिया विकल हो उठती है । वह कहती है मेरे प्राण ले लो पर प्रणय न मांगो । पर गौर उसे रात में सोती हुई छोड़कर प्रस्थान कर जाते है । विष्णुप्रिया और उसकी सास दोनों हरि के नाम के सहारे जीवन व्यतीत करती है । गोद न भरने का संतप्त दोनों को है । वह पति के प्रति करुणामयी हो उठी है क्योंकि गोर हरि-नाम के द्वारा समाज का उद्धार करना चाहता है ।

विष्णुप्रिया सास की सेवा के कर्तव्य पालन हेतु जीवन को त्याग भी न पाई है । स्वावलंबी बनकर सास के आश्रय में रहकर जीवन-यापन करती है । एक दिन उसके पति ने सन्यास दंड तोड दिया । राजा के वस्त्र-भेंट विष्णुप्रिया के पास भेजे । वह उसे अस्वीकार करती है । वह स्वप्न दर्शन में गौर की अतिमानवीय शक्ति को देखती है । पति से तुलना करते हुए उसने कहा 'पाया है मैंने तरस, धन्य, वे निज रस मदमाते है ।' अंत में गौर माँ को संदेशा भेजते है कि -

> ''माँ, तुम्हारी सेवा छोड़ धर्म भूल अपना,
>
> संयासी हुआ में मत, मुझको क्षमा करो ।''(87)

गौर की वृत्ति समाज के प्रति करुणा की अनुभूति होती है वह धीरे-धीरे आश्रम-धर्म को समझने लगे । मायापुर में पति के आने का संदेश पाकर विष्णुप्रिया व्याकुल हो उठती है कि उन्हें क्या भेंट देगी और क्या उनका स्वागत-समाहार कर सकेगी ? गौर से मिलने के समय वे पूछती है कि वह कैसे रहे ? और क्या करे ? यह सुनकर गौर निरुत्तर वे उसके सम्मुख खड़ाउ छोड़कर खड़े हो जाते है । विष्णुप्रिया पादुका का अवलंब पाकर कृतकृत्य हो उठती है । गौर की वृन्दावन यात्रा का विवरण सुनकर भी शची गंगालाभ के लिए उद्यत होती है । सास के न रहने पर विष्णुप्रिया समझती है कि अब उसे 'मरने का अवकाश' है । पर उसे स्वप्न में पति से आदेश पाती है कि 'आयु शेष रहते मरण आत्म-घात है ।' इसलिए वह अपने घर में ही मंदिर बनाकर उसमें गौर के चैतन्य महाप्रभु-रुप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करती है । वह एक तपस्विनी रुप में समय व्यतित करती है ।

काव्यगुण की द्रष्टि से 'विष्णुप्रिया' उत्कृष्ट रचना है । यह एक नायिका-प्रधान खंडकाव्य है । वियोगिनी की चरित्र कल्पना को विकसित किया है उसका प्रेम एकनिष्ठ और उत्सर्गशील है । कवि का मानवतावादी जीवन-दर्शन प्रकट हुआ है ।

(42) भूमिभाग :-

इस गीति-पुस्तिका में कवि को भूदान-विषयक इक्कीस प्रगीत संगृहीत है । इस पुस्तक का प्रकाशन समय है सन् 1953 । कवि भूदान-यज्ञ की अहिंसक क्रांति-पद्धति में पूर्णतः विश्वस्त है और उसकी आशा है कि सबके यथोचित सहयोग से यज्ञ यथा-संभव शीघ्र संपन्न होकर सफल होगा और 'व्यापक क्षेत्र में अहिंसा का सात्विक ओज' देखने को मिलेगा ।(88) भूमिभाग में भूमि-हीनों की समस्या को हल करने का प्रयत्न हुआ है । एक खेती, चढ़ौती तथा भू-भ्रष्ट प्रगीतों में उनकी करुण-स्थिति का वर्णन हुआ है । कुछ प्रगीत में भूमि पर सबके सामानाधिकार का सिद्धांत बताया है और कुछ में भूमि-दान के अभ्यर्थियों के उदारवृत्ति दिखाई है । कई प्रगीत वन्दनात्मक है तो कई में व्यंग्यात्मक

शैली अपनाई हुई है । आचार्य विनोबा भावे की नई सामाजिक क्रांति और उनके नवीन अर्थ-व्यवस्था को भूमि-दान के यज्ञ के द्वारा देश में जो कार्य कर रहे थे उनकी इसी अहिंसक और सर्वोदयी क्रांति का संदेश गुप्तजीने भूमि-भाग में अभिव्यक्त किया है । गुतजी आशावादी कवि हैं । 'चढ़ौती' में कृषक पत्नीने भूमि का दान करने के लिए पति को साग्रह मनाया है । 'भूमि का अधिकार छोडेंगे न तृण भी' प्रगीत में परुष भावना व्यक्त होती है । 'अनुभव' में कवि खुद साग्रह भूमि का दान करते है, यथा -

> ''लिए हो तुम कब से भू-भार ?
> उसे बँटाने का हमको भी दो अवसर इस बार ।''(89)

यह एक मार्मिक और समय के अनुकूल गीति-रचना है । विषयगत और शैलीगत विशेषताओँ से -विशुद्ध आत्माभिव्यंजक गीति-काव्य है ।

(43) कवि-श्री :-

'कवि-श्री' में पौराणिक स्त्री-पात्रों के विषय की ग्यारह रचनाओं का संग्रह है । इसका प्रकाशन समय सन् 1955 है । शकुंतला, कैकेयी, सीता माता, मांडवी, उर्मिला, यशोदा, राधा, कृब्जा, हिडिम्बा, उत्तरा और यशोधरा इन ग्यारह सन्नारियों की चरित्र-सृष्टि - गुप्तजी की नारी-भावना का परिचय दिया गया है ।

(44) रत्नावली :-

गोस्वामी तुलसीदासजी की पत्नी रत्नावली को लेकर लिखी गई यह काव्य कृति है । उसके बाल्यावस्था, विवाह तथा विरहवेदना का वर्णन हुआ है । इसका प्रकाशन समय सन् 1960 है । गुप्तजी ने इस अछूते पक्ष को अपनी रचना का विषय बनाया है । हिन्दी साहित्य में रत्नावली का इतना विशद वर्णन कहीं नहीं मिलता । रत्नावली विरहिणी नारी होते हुए भी वह किसीको उपालंब नहीं देती है । बल्कि उसकी यही कामना है कि सब पति का सुख भोग सके । विरह-वर्णन में उनकी यह नवीनता हे और दूसरी नवीनता है परंपरा से भिन्न स्वरुप में ऋतु वर्णन । यहाँ भी उनकी मौलिकता का परिचय मिलता है ।

तुलसीदास की सिद्धि और महानता के पीछे रत्नावली के फटकार का परिणाम है । तुलसीदास रामभक्त होता है । इस प्रकार कविने उस युग की नारी महत्ता को प्रदर्शित किया है कि पुरुष की सिद्धि या उसकी सफलता के पीछे नारी की बलवती चेतना या शक्ति ही होती है । कवि ने नारी की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए उसे पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है । यहाँ कवि की उदात्त नारी-

भावना का चित्रण हुआ है । 'रत्नावली' की भाषा काफी परिमार्जित एवं प्रौढ़ है । यह रचना आत्मकथा के रुप में लिखी गई होने से इसमें संवाद नहीं है ।

(45) उच्छ्वास :-

'उच्छ्वास' का प्रकाशन समय सन् 1960 है । इसमें कवि के शोक-विह्वल हृदय की अभिव्यक्ति हुई है । गुप्तजीने लिखा है कि **'यह मेरे बहुकालिक उच्छ्वासों का संग्रह है । अपनों के स्मारक के रुप में इसका संकलन स्वाभाविक हो सकता है ।'** [90] यह उनकी आत्मनिष्ठ रचना है ।

'उच्छ्वास' गुप्तजी के निजी एवं पारिवारिक प्रसंगो पर आधारित रचनाओं का संकलन है । इसकी सभी कविताएँ प्रायः निजी एवं भाईयों की संतानों के आकस्मिक निधन पर कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के द्वारा लिखी गई है । ये हृदय को गहराई तक छूनेवाली है । उनके हृदय का हाहाकार सरल एवम् स्पष्ट ढंग से व्यंजित हुआ है ।

इसकी अधिकतर गीतियों में करुण-रस का परिपाक हुआ है । कुकुम, सरसी आदि छंदो का भी प्रयोग हुआ है । यह छन्द 30 मात्रा का होता है ।

- अपहरण, प्रतिशोध, सुमन्त्र, सुदर्शन, आवागमन, अनुशोधन, कण्टक किरीट, क्षार-पारावर, आदि रचनाएँ गुप्तजी के दो पुत्र सुदर्शन एवं सुमन्त्र की मृत्यु के बाद लिखी गई है।
- नक्षत्र-निपात और पुष्पांजलि यह सियारामशरणजी के शिशु पुरुषोत्तम की मृत्यु पर लिखी गई रचनाएँ है ।
- राम, पलाचित, पुकार, भग्न-तन्त्र और कीर ये रचनाएँ चारुशीलाशरणजी के पुत्र रामेश्वर की मृत्यु पर लिखी गई है -संवत् 1983 में ।
- 'निरवलम्ब' कवि के काका के देहान्त के पश्चात संवत -1978 में लिखी गई रचना है।
- 'समाधि' मुंशी अजमेरीजी के निधन पर की गई संवत - 1994 की रचना है ।
- 'चयन' मित्र के वियोग पर लिखी गई संवत-1977 की रचना है ।
- 'चक्रवाली' मित्र की विधवा को संबोधन करके लिखी गई संवत-1992 की रचना है ।

----

(1) समीक्षा शास्त्र : दशरथ ओझा, सर आर्थर क्वीलर कोचकामत, पृ.31

(2) अपनी स्वर्ण-जयंती पर कवि का लिखित भाषण, काशी, विजयादशरी - 19-10-1936 । : मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठक से उद्धत.

(3) गुप्तीजी का लेख 'अपने विषय मे', मई-1955

(4) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ - इकहत्तर वर्षो की अभिनंदनीय गाथा - बहुघा - पृ.142 से उद्धत (गुप्तजी और मेरा सम्बन्घ, प्रताप - कानपुर, जुलाइ-1936 के चार अंको में घारावाहिक से प्रकाशित)

(5) गुप्तजी का लेख - 'अपने विषय में', मई-1955

(6) व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.15

(7) वही

(8) वही

(9) ये और वे : जैनेन्द्रकुमार, पृ.66

(10) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.14

(11) श्री मैथिलीशरण गुप्त 'अपने विषय में' (अप्रकाशित मैथिली मान-ग्रंथ)

(12) वही

(13) नई दिल्ली से, अप्रैल-1955 में प्रसारित 'मेरे कवि का आरंभ' शीर्षक रेडियो-वार्ता।

(14) 'मेरे कवि का आरंभ' मैथिलीशरण गुप्त, रेडियो-वार्ता सन् 1954

(15) 'अपने विषयमें', हस्तलिखित निबंघ

(16) सन् '48 में डी.लिट प्राप्त के उपकक्ष में आयोजित अभिनंदन समारोह, झाँसी के भाषण का अंश।

(17) गुप्तजी और मेरा सम्बन्घ, मुंशी अजमेरी

(18) 'अपने विषय में' मैथिलीशरण गुप्त

(19) गुप्तजी और मेरा सम्बन्घ, मुंशी अजमेरी

(20) 'अपने विषय में' मैथिलीशरण गुप्त

(21) वही

(22) वही (डो.कमलाकान्त पाठ़क : व्यकित औक़ काव्य, पृ.24 से उद्धत)

(23) व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.24

(24) राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त : श्रीमती महादेवी वर्मा, नईघारा, अप्रेल-मई, 1951, पृ.157-158

(25) व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.26 (अपने विषय में, मैथिलीशरण गुप्त)

(26) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त : श्रीमती महादेवी वर्मा, नईधारा, अप्रेल-मई 1951, पृ.156-157
(27) वही, पृ.157-158
(28) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ - इक हत्तर वर्षो की अभिनंदनीय गाथा : श्री ऋषि जैमिनी कौशिक - 'बहुआ', पृ.150 (मुंशी अजमेरी - दैनिक प्रताप, 22 जुलाइ, 1936)
(29) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डो.कमलाकान्त पाठ्क, पृ.28)
(30) वही (गुप्तजी का और मेरा संबंघ : मुंशीं अजमेरी)
(31) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त : श्रीमती महदेवी वर्मा, नई घारा, अप्रेल, मइ 1951, पृ.166
(32) गुप्तजी का और मेरा संबंघ : मुंशी अजमेरी, सन् 1936 ।
(33) कवि से वार्तालाप : मैथिलीशरण गुप्त : व्यकित और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठक, पृ.63
(34) मैथिलीशरण गुप्त : व्यकित और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठक, पृ.61
(35) मैथिलीशरण गुप्त : गंगाप्रसाद पाण्डेय, आजकल, अगस्त, 1950, पृ.51
(36) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य - डा.कमलाकान्त पाठ्क, पृ.63
(37) मैथिलीशरण गुप्त : जैनेन्द्रकुमार, हंस, मार्च 1936, पृ.52
(38) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य - डा.कमलाकान्त पाठ्क, पृ.73
(39) वही, पृ.9
(40) ये और वे : जैनेन्द्रकुमार, पृ.67, 68
(41) राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, अभिनंदन ग्रंथ : श्रीमती महादेवी वर्मा, पृ.91
(42) मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व की द्वैतता : श्री रामकृष्णदास, पृ.9
(43) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठ्क, पृ.30
(44) मैथिलीशरण गुप्त के व्यकित्तव की द्वैतता : श्री रामकृष्णदास, पृ.11
(45) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य - डा. कमलाकान्त पाठ्क, पृ.36
''सामायिक साहित्य में गुप्तजके यही अभिघेय दिया जाता है और वह सुप्रचलित हो गया है ।''
(46) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य - डा.कमलाकान्त पाठ्क, पृ.139
(47) महावीरप्रसाद द्विवेदी, 22 दिसम्बर, 1909
(48) आघुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा.श्री कृष्णलाल, पृ.102-103
(49) विचार विमर्स : आचार्य द्विवेदी, पृ.165
(50) गुप्तजी के जीवन की काव्य की कारुण्य घारा : डा.घर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ.10
(51) तिलोत्तमा : मैथिलीशरण गुप्त का मुख-पृष्ठ का नीति-वाकय
(52) हिन्दी नाटक - साहित्य का इतिहास : डा.सोमनाथ गुप्त, पृ.208

(53) चन्द्रहास : मैथिलीशरण गुप्त- षष्ठावृत्ति, पृ.16

(54) पत्रावलि : मैथिलीशरण गुप्त, मुख-पृष्ठ

(55) सरस्वती पत्रिका, मैथिलीशरण गुप्त, पृ.85

(56) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल, पृ.54

(57) मैथिलीशरण गुप्त : गणेशजी, सुघा - नवम्बर 1931, पृ.448
(परंतु 'अनघ' लिखते समय युवक मघ की मूर्ति के रुप में गणेशजी ही मुझे दिखाई पडे। उन्हीं की मूर्ति को हृष्ट-पुष्ट रुप में मैंने ले लिया। और 'मघ' में मुझे महात्मा गांधी के चरित का आभास मिला।)

(58) गुप्तजी की कला : डा.सत्येन्द्र, पृ.91

(59) मैथिलिशरण गुप्त : व्यक्तित और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.173

(60) आघुनिक भारत : आचार्य जाबड़ेकर, पृ.287

(61) मैथिलीशरण गुप्त, कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता - डो.उमाकान्त, पृ.31
(दे.गुरुकुल, संस्करण-सम्वत 2004, उपोद्घात, पृ.2)

(62) 'कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता' - निबंध : डा.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.393

(63) साकेत में काव्य, संस्कृति और दर्शन - डा.द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, पृ.162

(64) आघुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ.97

(65) आघुनिक भारत : आचार्य जाबड़ेकर, पृ.394

(66) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृ.1

(67) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृ.4

(68) वही (बुद्ध चरित, 11-14)

(69) कृणाल गीत : मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृ.5

(70) मैथिलीशरण गुप्त : व्यकित और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.217
('बुद्ध-घर्म के व्यापक प्रचार और प्रसार में अशोक कार्य महत्वपूर्ण है।' श्री वापर, आजकल, वार्षिक अंक, दिसम्बर-1956, पृ.39)

(71) मैथिलीशरण गुप्त : व्यकित और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठ़क, पृ.218

(72) मैथिलीशरण गुप्त : डा.उमाकान्त, पृ.43

(73) कृणाल गीत : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.134

(74) वही, पृ.103

(75) काबा और कर्बला : मैथिलीशरण गुप्त, आवेदन, पृ.5

(76) वही, पृ.4

(77) वही, पृ.5

(78) वही, पृ.4

(79) विश्व-वेदना : मैथिलीशरण गुप्त, सूचना, पृ.1

(80) प्रदक्षिणा : मैथिलीशरण गुप्त, शीर्षक रहित आमुख, पृ.5

(81) पृथिवीपुत्र : मैथिलीशरण गुप्त, भूमिका, पृ.6

(82) अंजलि और अर्घ्य : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.7

(83) वही, निवेदन, पृ.4

(84) मैथिलीशरण गुप्त : डा.उमाकान्त, पृ.52

(85) जयभारत समीक्षा, विचार और विश्लेषण : डा.नगेन्द्र, पृ.27

(86) राजा - प्रजा : मैथिलीशरण गुप्त, मुख-पृष्ठ पर लिखित

(87) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.107

(88) भूमि-भाग : मैथिलीशरण गुप्त, दो शब्द

(89) वही, पृ.14

(90) उच्छ्वास : मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृ.1

- - - - -